वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 249

भगवान पार्श्वनाथ

लेखिका-

गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी

20वें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रत की जन्मभूमि राजगृही में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित 'भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव' के संकल्पवर्ष में प्रकाशित

जम्बूद्वीप हस्तिनापुर

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

फोन नं.- (01233) 280184, 280236

प्रथम संस्करण	श्रावण शुक्ला सप्तमी	मूल्य
5000 प्रतियाँ	वीर नि. सं. 2530	15/-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

-: मार्गदर्शन :-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

-: निर्देशन :-

धर्मदिवाकर पीठाधीश क्षुल्लकरत्न श्री मोतीसागर जी महाराज

-: सम्पादक :-

कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग-ज्ञानमती नेटवर्क

जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

-कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की तीर्थंकर परम्परा में आज से 2880 वर्ष पूर्व भगवान पार्श्वनाथ ने वाराणसी नगरी में जन्म लिया। महाराजा अश्वसेन एवं महारानी वामादेवी ने तीर्थंकर शिशु के पिता-माता बनने का सौभाग्य प्राप्त किया।

भगवान पार्श्वनाथ क्षमा की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। कमठ के द्वारा अकारण वैरभाव को भी उन्होंने धैर्यपूर्वक सहन किया तथा अन्त में "संकट मोचन पार्श्वनाथ" कहलाए।

भगवान पार्श्वनाथ के इस रोमांचक कथानक को पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने इस "भगवान पार्श्वनाथ" नामक लघु उपन्यास में लेखनीबद्ध किया है।

वैसे तो पूज्य माताजी अपना अमूल्य समय बड़े-बड़े ग्रन्थों को लिखने में व्यतीत करती हैं परन्तु हम सब के विशेष आग्रह को स्वीकार करके उन्होंने बच्चों के लिए बालविकास, महिलाओं के लिए नारी आलोक, युवकों के लिए उपन्यास शैली में छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना की है।

वास्तव में हम बहुत ही अधिक पुण्यशाली हैं जो कि हमें बीसवीं सदी में पूज्य माताजी के दर्शन प्राप्त हो रहे हैं उन्होंने साहित्यजगत में जो महानकार्य किया है वह चिरकाल तक स्मरण किया जाता रहेगा। भगवान महावीर के पश्चात् 2600 वर्षों में कोई भी महिला साध्वी ऐसी नहीं हुई जिन्होंने ग्रन्थों का लेखन किया हो। सबसे अधिक विशेष बात तो यह है कि इनके द्वारा लिखित छोटी-बड़ी कोई भी पुस्तक मात्र पुस्तकालयों की शोभा को वृद्धिंगत नहीं करती है अपितु सभी श्रावकगण उसे रुचिपूर्वक पढ़ते हैं तथा अनेकों श्रावक-श्राविका तो पूज्य माताजी द्वारा लिखी गई नई कृति का इंतजार करते रहते हैं।

इस प्रकार आप सभी पाठकगण अपने अमूल्य समय में से थोड़ा सा समय धर्माराधना के लिए अवश्य निकालें तथा इस प्रकार की धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय करके अपने जीवन को सुखी एवं समृद्धिशाली बनाने के पुरुषार्थ में सफलता प्राप्त करें, यही मंगल कामना है।

प्रस्तावना

-ब्र. कु. सारिका जैन (संघस्थ)

तुमसे लागी लगन, ले लो अपनी शरण, पारस प्यारा,
मेटो मेटो जी संकट हमारा।

भगवान पार्श्वनाथ से प्रार्थना करती हुईं ये पंक्तियाँ वास्तव में बहुत सुन्दर लगती हैं। हम भगवान पार्श्वनाथ से ही संकट मिटाने की बात क्यों कहते हैं? क्योंकि जिन्होंने अपने ऊपर आए हुए संकटों का निवारण कर लिया है और जो "संकट मोचन" इस संज्ञा को प्राप्त हो चुके हैं वही हमारे और आपके संकटों का भलीभाँति निराकरण कर सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक "भगवान पार्श्वनाथ" में जैनधर्म के तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के जीवन का बहुत ही रोमांचकारी वर्णन है। जैसा कि कहा जाता है कि "एक हाथ से ताली नहीं बजती है" और यह सच भी है कि बिना दोनों हाथों के ताली नहीं बज सकती है परन्तु महापुरुषों के जीवन में इस प्रकार की लोकोक्तियाँ शायद कोई मायने नहीं रखती हैं तभी तो कमठ द्वारा एकतरफा वैर कई जन्मों तक चलता रहा परन्तु भाई मरुभूति का धैर्य तो देखिए! हर तरह के भयंकर से भयंकर उपसर्ग को भी उन्होंने बहुत ही शांतिपूर्वक सहन किया तभी तो आज सारी दुनिया उनकी पूजा-भक्ति करके अपने कर्मों की निर्जरा करती है।

4 फरवरी सन् 2000 को पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से "भगवान ऋषभदेव अन्तर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव" का उद्घाटन समारोह था। उस विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए भारत के प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने बहुत ही गौरवपूर्ण शब्दों में कहा था कि "हमारे प्रधानमंत्री कार्यालय में आज भी भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान है।" इससे यह स्पष्ट है कि भगवान पार्श्वनाथ मात्र जैनियों के ही नहीं अपितु जन-जन के आराध्य हैं।

विगत 5 दिसम्बर 2003 को भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्मभूमि राजगृही में पूज्य माताजी ने "भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव वर्ष" मनाने की प्रेरणा सम्पूर्ण जैन समाज को प्रदान की है। इस अवसर पर पौष कृ. 11, 19 दिसम्बर 2003 को भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर में पूज्य माताजी के ससंघ सानिध्य में अखण्ड 'संकल्पदीप' प्रज्वलित किया गया तथा भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी में भी पूज्य माताजी की प्रेरणा से "संकल्पदीप" का प्रज्वलन करके भक्तों ने "भगवान पार्श्वनाथ महोत्सव" को एक वर्ष तक मनाने का संकल्प किया है। इस महोत्सव का विधिवत् उद्घाटन आगामी पौष कृ. 11, 6 जनवरी 2005 को पूज्य माताजी के सानिध्य में भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी से किया जाएगा, पुनः 1 वर्ष तक पूरे देश में विभिन्न आयोजनों के साथ मनाया जाएगा।

आप सभी लोग भगवान पार्श्वनाथ के जीवनवृत्त को पढ़कर अपने हृदय में क्षमा, धैर्य, सहनशीलता आदि गुणों को विकसित करके अपने जीवन को सर्वतोमुखी बनाएँ, यही पुस्तक की सार्थकता है।

तीर्थंकर जन्मभूमि विकास की प्रेरणास्रोत-जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी

राष्ट्रगौरव गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का

-:संक्षिप्त-परिचयः-

प्रस्तुति-आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान –टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.
जन्मतिथि –आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991(सन् 1934)
गृहस्थ का नाम–कु. मैना
माता-पिता –श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन
आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत एवं गृहत्याग– ई. सन् 1952 में बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से।
क्षुल्लिका दीक्षा–चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी क्षेत्र (राज.) में
आर्यिका दीक्षा–वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्यश्री शांतिसागर जी की परम्पर के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी के करकमलों से।
कृतित्व – * अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्रव्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं 250 विशिष्ट ग्रंथों की लेखिका।
*हस्तिनापुर में जंबूद्वीप, तीनमूर्ति मंदिर, कमल मंदिर, ध्यान मंदिर, ॐमंदिर आदि के निर्माण की प्रेरिका।
*समवसरण श्रीविहार रथ का सम्पूर्ण भारत में 22 मार्च 1998 से प्रवर्तन।
*1981, 1982, 1985, 1987, 1992,1993, 1995, 1998 में जैनधर्म संबंधी राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सेमिनारों की प्रेरिका।
*1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा "डी.लिट्." की मानद उपाधि से विभूषित
*4 फरवरी 2000 को भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महा महोत्सव की प्रेरिका।
*"तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली" प्रयाग तीर्थ के निर्माण एवं नूतन तीर्थ पर 4 से 8 फरवरी 2001 तक भव्य पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं महामस्तकाभिषेक की प्रेरणास्रोत।
*ई.सन् 2001 में भगवान महावीर 2600वाँ जन्मकल्याणक महोत्सव के अवसर पर 2600मंत्रों से समन्वित "विश्वशांति महावीर विधान" का लेखन एवं भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) तीर्थ विकास की प्रेरणा।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

भगवान पार्श्वनाथ तृतीयसहस्राब्दि महोत्सव सब मिलकर मनाएं

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की तीर्थंकर परम्परा में 20वें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रत की जन्मभूमि एवं भगवान महावीर की प्रथमदेशनाभूमि राजगृही तीर्थ पर 3 दिसम्बर 2003 से 8 दिसम्बर 2003 तक आयोजित श्री मुनिसुव्रत जिनबिम्ब पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर दिनाँक 5 दिसम्बर, मगशिर शु. 12 को पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका-शिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा ''भगवान पार्श्वनाथ तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव'' मनाने हेतु सार्वजनिक प्रेरणा प्रदान की गई।

पुनः 19 दिसम्बर 2003, पौष कृ. 11 को भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक दिवस पर जन्मभूमि बनारस, कुण्डलपुर एवं अनेक स्थानों पर पूज्य माताजी की प्रेरणानुसार महोत्सव का संकल्पदीप प्रज्वलित हुआ।

ज्ञातव्य है कि इस महोत्सव का उद्घाटन 6 जनवरी 2005 को राष्ट्रीय स्तर पर किया जाएगा जो पूरे 1 वर्ष तक देश-विदेश में भारी प्रभावनापूर्वक मनाया जाएगा।

पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी ने सम्पूर्ण जैन समाज को आह्वान किया है कि आप सभी अपनी-अपनी संस्थाओं एवं समितियों के माध्यम से भगवान पार्श्वनाथ के इस महोत्सव को व्यापकरूप में मनाने हेतु योजना बनाएं तथा जैनधर्म की प्राचीनता व सार्वभौमिकता से जन-जन को परिचित कराएं।

तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ एवं पार्श्वनाथ जन्मभूमि

वाराणसी तीर्थ का परिचय

—आर्यिका चंदनामती

काशी और वाराणसी नाम से प्रख्यात बनारस नगरी कर्मभूमि के प्रारंभ में ही इन्द्र के द्वारा बसाई गई थी। यहाँ सातवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्वनाथ तथा तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के (जन्म तथा उन दोनों के क्रमशः) चार एवं तीन कल्याणक हुए हैं। जब वहाँ के महाराजा सुप्रतिष्ठ अपनी 'पृथ्वीषेणा' नामक महारानी के साथ राज्य कर रहे थे तब सुपार्श्वनाथ के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से लेकर जन्म होने तक कुबेर ने लगातार पन्द्रह माह तक रानी ''पृथ्वीषेणा'' के महल में रत्नों की वर्षा की थी। वे भादों सुदी षष्ठी तिथि को माता के गर्भ में आए तथा ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में उनका जन्म हुआ। पुनः जन्मतिथि में उन्होंने दीक्षा धारण की एवं फाल्गुन कृ. षष्ठी में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। सम्मेदशिखर पर्वत से भगवान सुपार्श्वनाथ ने फाल्गुन कृ. सप्तमी को निर्वाण प्राप्त किया था। इनके शरीर की ऊँचाई 800 हाथ थी, वर्ण हरा था।

इसके पश्चात् भगवान पार्श्वनाथ के संबंध में वर्णन है कि—

भगवान पार्श्वनाथ वाराणसी नगरी में पिता अश्वसेन और माता वम्मिला (वामा) से पौष कृष्णा एकादशी के दिन उत्पन्न हुए। उत्तर पुराण में इनकी माता का नाम ब्राह्मी भी आया है। तीर्थंकर पार्श्वकुमार ने विवाह नहीं किया था, तीस वर्ष की अवस्था में एक दिन राजसभा में अयोध्यानरेश जयसेन के दूत द्वारा भगवान ऋषभदेव का चरित्र सुनते-सुनते उन्हें वैराग्य हो गया था तब उन्होंने अश्ववन में जाकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उन्होंने पौष कृ. 11 तिथि को दीक्षा ली। इनके शरीर की ऊँचाई 9 हाथ, आयु 100 वर्ष और वर्ण हरा था। एक बार ध्यान में लीन प्रभु ने शंबर नामक ज्योतिषी देव (कमठ नामक पूर्व भव का वैरी) के दारुण उपसर्गों को सहनकर चैत्र कृ. चतुर्थी[1] तिथि को अहिच्छत्र में केवलज्ञान प्राप्त किया तथा श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन सम्मेदशिखर पर्वत से मोक्षधाम को पधारे हैं। उनके बाद सम्मेदशिखर पर्वत से किसी भी तीर्थंकर ने मोक्ष की प्राप्ति नहीं की है अतः वह पर्वत वर्तमान में ''पारसनाथ हिल'' के नाम से जाना जाता है।

1. उत्तरपुराण में चैत्र कृ. चतुर्दशी है।

वर्तमान में बनारस नगरी हिन्दुओं के तीर्थधाम से अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त है किन्तु प्राचीन इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि जिनधर्म की प्रभावना के अनेक कथानक यहाँ से जुड़े हुए हैं। सर्वप्रथम काशीनरेश अकम्पन ने अपनी पुत्री ''सुलोचना'' का स्वयंवर रचकर इस धरती पर स्वयंवर प्रथा प्रारंभ की थी। हस्तिनापुर के राजकुमार तथा सम्राट् भरत के प्रमुख सेनापति जयकुमार के गले में वरमाला डालकर सुलोचना ने कन्याओं को कुल परंपरा का ध्यान रखते हुए स्वाधीनता—पूर्वक अपना पति चुनने का इतिहास बनाकर कन्याओं की महत्ता प्रदर्शित की थी।

एक अन्य पौराणिक उल्लेख के अनुसार भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में नौवें चक्रवर्ती ''पद्म'' का जन्म बनारस में हुआ था। तब उन्होंने चक्ररत्न के द्वारा छह खंड को जीतकर बनारस को ही अपनी राजधानी बनाया था।

इसके पश्चात् यहाँ इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना घटी थी, वह थी समंतभद्र की। कथानक आता है कि समंतभद्र जी को मुनि अवस्था में भस्मक व्याधि हो गई थी जिसकी उपशांति के लिए उन्होंने गुरु आज्ञा से मुनिवेष का परित्याग कर दक्षिण भारत से उत्तर की बनारस नगरी में आकर एक शिवमंदिर में शिवजी की प्रतिमा को साक्षात् नैवेद्य खिलाने की बात कही थी। उस समय वाराणसी के राजा शिवकोटि थे। उन्हें एक बार मंदिर के पुजारियों से ज्ञात हुआ कि समंतभद्र महादेव जी के भोग का सारा नैवेद्य स्वयं खाते हैं। तब राजा को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने समन्तभद्र से शिवपिण्डी के समक्ष गलती स्वीकार करके नमस्कार करने को कहा। समन्तभद्र की भस्मक व्याधि तब तक शान्त हो चुकी थी, उन्होंने भावपूर्वक चौबीसों तीर्थंकर की स्तुति रचना करके उसे पढ़ना शुरू कर दिया। जब वे भगवान चन्द्रप्रभु की स्तुति पढ़ रहे थे तभी शिवपिण्डी फट गई और चन्द्रप्रभ की प्रतिमा उसमें से प्रगट हो गई। यह चमत्कार देखकर राजा शिवकोटि भी उनके अनुयायी बन गए। समन्तभद्र ने पुनः मुनिदीक्षा लेकर स्व-पर कल्याण किया।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास भी यात्रा के निमित्त काशी में आए थे। उनके लिखे हुए अर्द्धकथानक नामक आत्मचरित ग्रंथ से पता चलता है कि वे व्यापार आदि के सिलसिले में वाराणसी कई बार आते थे।

बनारस के स्थानीय भारत-कला भवन में पुरातत्त्व संबंधी बहुमूल्य सामग्री संग्रहीत है। यहाँ राजघाट तथा अन्य स्थानों पर खुदाई में जो

पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध हुई थी, वह इस कला भवन में सुरक्षित है। यह सामग्री विभिन्न युगों से संबंधित है। इसमें पाषाण और धातु की अनेक जैन प्रतिमाएं भी हैं ये कुषाण काल से लेकर मध्यकाल तक की हैं।

बनारस में 'भदैनी जैन घाट' नाम से एक स्थान है जो भगवान सुपार्श्वनाथ का जन्मस्थान माना जाता है। यहाँ आजकल स्याद्वाद महाविद्यालय नामक प्रसिद्ध शिक्षण संस्था है। इस भवन के ऊपर भगवान सुपार्श्वनाथ का मंदिर है। यह गंगा तट पर अवस्थित है, दृश्य अत्यंत सुन्दर है। मंदिर छोटा ही है किन्तु शिखरबद्ध है।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्मस्थल वर्तमान के भेलूपुर मोहल्ले को माना जाता है। उनके जन्मस्थान पर बहुत विशाल सुन्दर मंदिर बना हुआ है। उसी कम्पाउन्ड के भीतर धर्मशाला भी बनी हुई है। जिसमें सभी दिगम्बर जैन बंधुओं के ठहरने की समुचित व्यवस्था है। भेलूपुर में एक और दिगम्बर जैन मंदिर भी है उसमें मूलनायक पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा है।

हिन्दुओं की मान्यतानुसार अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, अवन्ति, उज्जयिनी और द्वारका ये सात महापुरियाँ हैं इनमें काशी मुख्य मानी गई है। ''काश्यां हि मरणान्मुक्तिः'' यह हिन्दू शास्त्रों का वाक्य है।

बनारस सहस्रों वर्षों से विद्या का केन्द्र रहा है। यहाँ भारतीय वाङ्मय-दर्शन और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की प्राचीन परम्परा आज तक सुरक्षित है।

दिल्ली से कुण्डलपुर (नालंदा) की ओर संघ के मंगल विहार के मध्य पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का 19 नवंबर 2002 को बनारस में पदार्पण हुआ। वहाँ लगभग 1 सप्ताह प्रवास के मध्य ''बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय'' में प्रथम बार जैन साधुओं के मंगल प्रवचन का कार्यक्रम भी हुआ। जिसमें बी.एच.यू. तथा डा. सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपतियों सहित अनेक वरिष्ठ प्रवक्ताओं ने पूज्य माताजी की संस्कृत भाषाजनित प्रतिभाशक्ति का कोटिशः अभिनंदन किया तथा अपने विश्वविद्यालयों में दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान–जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर द्वारा प्रदत्त साहित्य को ससम्मान विराजमान किया।

तीर्थंकरद्वय की उस पावन जन्मभूमि वाराणसी तीर्थ को शत-शत नमन।

तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जन्मभूमि

चन्द्रपुरी तीर्थ का परिचय

–आर्यिका चंदनामती

गंगा के सुरम्य तट पर स्थित जैनधर्म के आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ भगवान की जन्मभूमि चन्द्रपुरी वाराणसी से लगभग 24 किमी. दूर है। यहाँ की वन्दना से असीम आनन्दानुभूति होती है। यहाँ चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे इसलिए यह अत्यन्त प्राचीन तीर्थस्थान माना जाता है।

यहाँ एक प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर है एवं निकट में ही एक श्वेताम्बर जैन मंदिर है। दिगम्बर जैन मंदिर दूसरी मंजिल पर निर्मित है तथा इसके चारों ओर पुरानी धर्मशाला भी है।

मंदिर में गर्भगृह के द्वार पर इधर-उधर आलों में ''विजय यक्ष'' और अष्टभुजी यक्षिणी ''ज्वालामालिनी'' की मूर्तियाँ विराजमान हैं।

गंगा के तट पर स्थित होने के कारण इस मंदिर का विहंगम दृश्य अत्यन्त मनोहारी है। किंतु इस तीर्थ की वीरानियत देखकर मन अत्यन्त दुखी हो जाता है, इसके जीर्णोद्धार एवं विकास की अत्यन्त आवश्यकता है।

चन्द्रपुरी तीर्थ बनारस और गाजीपुर मार्ग पर स्थित है।इस पावन तीर्थ को शत-शत नमन।

तीर्थंकर श्रेयांसनाथ जन्मभूमि

सिंहपुरी तीर्थ का परिचय

सिंहपुरी वाराणसी जिले में वाराणसी से सड़कमार्ग द्वारा 6 किमी. दूर उत्तर में अवस्थित है। भगवान श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के जन्म एवं चार कल्याणकों के कारण यह प्रागैतिहासिक काल से जैन तीर्थ रहा है। यहाँ उनके गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे। विद्वानों का मत है कि तीर्थंकर श्रेयाँसनाथ जी का जन्म स्थान होने के कारण ही इस स्थान का नाम ''सारनाथ' पड़ गया है।

सारनाथ में भगवान श्रेयाँसनाथ का एक प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर है। मंदिर के गर्भगृह में तीर्थंकर श्रेयांसनाथ जी की ढाई फिट ऊँची श्याम वर्ण की मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है उसी वेदी में आगे एक छोटी श्वेतवर्ण की श्रेयांसनाथ की प्रतिमा है। भगवान की वेदी अत्यन्त कलापूर्ण है।

मुख्यवेदी के बगल में नन्दीश्वर जिनालय का फलक है जिसमें 60 प्रतिमाएँ बनी हुई हैं ये भूगर्भ से प्राप्त हुई थीं।

मंदिर के कम्पाउन्ड से बाहर भारत सरकार की ओर से पुष्पोद्यान बना है। यह सारी भूमि पहले दिगम्बर जैन मंदिर की थी किन्तु समाज की लापरवाही एवं असावधानी के कारण इस विशाल भूमि पर अब सरकारी अधिकार हो गया है।

जैन मंदिर के निकट ही 103 फिट ऊँचा एक स्तूप है, इसे सम्राट अशोक द्वारा निर्मापित कहा जाता है। भगवान श्रेयाँसनाथ की जन्मनगरी होने के कारण सम्राट् ने भगवान की स्मृति में इसे निर्मित कराया होगा यह मान्यता भी प्रचलित है। स्तूप के ठीक सामने सिंहद्वार बना हुआ है जिसके दोनों स्तम्भों पर सिंहचतुष्क बना हुआ है। सिंहों के नीचे धर्मचक्र है जिसके दाईं ओर बैल और घोड़े की मूर्तियाँ अंकित हैं द्वार का आकार भी बड़ा कलापूर्ण है। लोक में यह मान्यता है कि इसी स्तंभ की सिंहत्रयी को भारत सरकार ने राजचिन्ह के रूप में मान्यता प्रदान की है।

पौराणिक मान्यतानुसार इस स्थान पर ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया था। यहाँ पर देवों ने उनके समवसरण की रचना की थी।

सारनाथ वर्तमान में महात्मा बुद्ध की प्रथम उपदेशस्थली के रूप में जग विख्यात है एवं यहाँ बुद्ध के अनेकों मंदिर आदि हैं। यहाँ पुरातत्त्व की खुदाई में अनेकों बुद्ध संबंधी अवशेष एवं जैन मूतियाँ इत्यादि प्राप्त हुईं जो यहाँ के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

सारनाथ अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटन स्थल है अतः जैनधर्म के प्रचार-प्रसार हेतु भी यह अत्यन्त उपयोगी स्थल हो सकता है। काशी के जैन समाज की भावनाओं के आधार पर सारनाथ के प्रांगण में सवा ग्यारह फुट ऊँची पद्मासन चमत्कारिक प्रतिमा भगवान श्रेयांसनाथ की स्थापित हो चुकी हैं। पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने नवंबर 2002 में सारनाथ पदार्पण के अवसर पर इस परिसर का नाम ''भगवान श्रेयांसनाथधर्मस्थल'' प्रदान किया है।

तीर्थंकर श्रेयांसनाथ जी का मंदिर अत्यन्त रमणीक स्थान पर स्थित है मंदिर के चारों तरफ एवं बाहर की हरियाली का दृश्य नयनाभिराम है। वैसे यहाँ ठहरने के लिए जैन धर्मशाला बनी हुई है फिर भी अधिकतर सिंहपुरी की वंदना करने आने वाले यात्री बनारस में ही रुकते हैं। बनारस से टैम्पो, बस आदि समय-समय पर आसानी से उपलब्ध रहते हैं। सिंहपुरी की यात्रा के साथ ही ''चन्द्रपुरी'' तीर्थ की यात्रा भी लोग करते हैं अतः एक दिन में दोनों तीर्थों की वंदना हो जाती है।

भजन

रचयित्री—आर्यिका चन्दनामती

(तर्ज-माई रे माई.....)

मुनिसुव्रत की जन्मभूमि से, गूंज उठा इक नारा।
पार्श्वनाथ का महामहोत्सव, करे जगत यह सारा।।
बोलो वाराणसी की जय, बोलो पार्श्वनाथ की जय।। टेक.।।

पारस प्रभु तेइसवें तीर्थंकर हैं जैनधरम के।
वाराणसि में जन्मे, राजा अश्वसेन के घर में।।
वामा माता धन्य हो गईं, इन्द्र करें जयकारा।
पार्श्वनाथ का महामहोत्सव, करे जगत यह सारा।। बोलो...।।1।।

गर्भ जन्म तप तीन कल्याणक, वाराणसि में मनाये।
इन्द्र ज्ञानकल्याण मनाने, अहिच्छत्र में आये।।
श्री सम्मेदशिखर पर्वत से, प्राप्त किया शिवद्वारा।
पार्श्वनाथ का महामहोत्सव, करे जगत यह सारा।। बोलो...।।2।।

पारस प्रभु की तृतिय सहस्राब्दी का उत्सव आया।
गणिनीप्रमुख ज्ञानमती माता ने सबको समझाया।।
ऋषभ-वीर के बाद करो अब, तृतिय महोत्सव प्यारा।
पार्श्वनाथ का महामहोत्सव, करे जगत यह सारा।। बोलो...।।3।।

उत्सव और महोत्सव कर, जिन धर्म की शान बढ़ाओ।
इस माध्यम से सभी जैन मिल, एक मंच पर आओ।।
तभी ''चन्दनामती'' धर्म का, ध्वज लहराए प्यारा।
पार्श्वनाथ का महामहोत्सव, करे जगत यह सारा।।
बोलो वाराणसी की जय, बोलो पार्श्वनाथ की जय।
बोलो अहिच्छत्र की जय,श्री सम्मेदशिखर की जय।।4।।

भगवान पार्श्वनाथ

भगवान पार्श्वनाथ वंदना

–शंभु छंद –

भवसंकट हर्ता पार्श्वनाथ! विघ्नों के संहारक तुम हो।
हे महामना हे क्षमाशील! मुझमें भी पूर्ण क्षमा भर दो।।
यद्यपि मैंने शिव पथ पाया, पर यह विघ्नों से भरा हुआ।
इन विघ्नों को अब दूर करो, सब सिद्धि लहूँ निर्विघ्नतया।।1।।

वाराणसि नगरी धन्य हुई, धन धन्य हुए सब नर नारी।
हे अ[1]श्वसेननंदन! तुम से, वामा[2] माँ भी मंगलकारी।।
वैसाख वदी वह दूज भली, माता उर आप पधारे थे।
श्री आदि देवियों ने आकर, माता से प्रश्न विचारे थे।।2।।

शुभ पौष वदी ग्यारस तिथि थी, जब आए प्रभु साक्षात् यँहा
मित्रों संग वन में घूम रहे, अहियुग[3] को दीना मंत्र महा।।
तब नागयुगल धरणेन्द्र तथा, पद्मावति होकर भक्त बने।
शुभ पौष वदी ग्यारस के दिन, प्रभु दीक्षा ले मुनि श्रेष्ठ बने।।3।।

1. अपरनाम विश्वसेन 2. अपरनाम ब्राह्मी 3. सर्प-सर्पिणी।

तत्क्षण मनपर्ययज्ञानी हो, सब ऋद्धी से परिपूर्ण हुए।
इक समय सघन वन के भीतर, प्रभु निश्चल ध्यानारूढ़ हुए।।
कमठासुर ने उपसर्ग किया, अग्नी ज्वाला को उगल-उगल।
पत्थर फेंके मूसलधारा, वर्षायी आँधी उछल-उछल।।4।।

निष्कारण ही कमठासुर ने, दश भव तक बैर निकाला था।
प्रभु को दुख दे देकर उसने, खुद को दुर्गति में डाला था।।
प्रभु महासहिष्णू क्षमासिंधु, भव-भव से सहते आये हैं।
तन से ममता को छोड़ दिया, नहिं किंचित् भी घबराये हैं।।5।।

उस ही क्षण धरणीपति पद्मावती, आ करके बहु भक्ति किया।।
प्रभु को मस्तक पर धारणकर, ऊपर से फण का छत्र किया।
प्रभु क्षपक श्रेणि में चढ़ करके, मोहनी कर्म का नाश किया।
सम्पूर्ण घातिया को विनाश,कैवल्यश्री को वरण किया।।6।।
पृथ्वी से बीस हजार हाथ, ऊपर पहुँचे अर्हन्त बने।
इन्द्रों के आसन कांप उठे, प्रभु समवसरण गगनांगण में।।
वदि चैत्र चतुर्थी तिथि उत्तम, जब प्रभु में ज्ञान प्रकाश हुआ।
उस स्थल का उस ही क्षण से, 'अहिच्छत्र' तीर्थ यह नाम हुआ।।7।।

नव हाथ देह सौ वर्ष आयु, मरकतमणि सम आभाधारी।
अहि चिन्ह सहित वे पार्श्वप्रभो! मुझको हों नित मंगलकारी।।
श्रावण सुदि सप्तमि तिथि के दिन, सिद्धीकांता से प्रीति लगी।
मैं नमूँ तुम्हें पल-पल क्षण-क्षण, मेरीहो केवल''ज्ञानमती''।।8।।

भगवान पार्श्वनाथ के 9 पूर्व भवों के नाम –

1. मरुभूति
2. हाथी
3. शशिप्रभ देव
4. अग्निवेग विद्याधर
5. अच्युत स्वर्ग में देव
6. वज्रनाभि चक्रवर्ती
7. मध्यम ग्रैवेयक में अहमिंद्र
8. अयोध्या के राजा आनंद
9. आनत स्वर्ग में इन्द्र
10. भगवान पार्श्वनाथ

1. उत्तरपुराण में चतुर्दशी है।

भगवान पार्श्वनाथ

(संक्षिप्त परिचय)

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र संबंधी काशी देश में बनारस नाम का एक नगर है। जहाँ राजा अश्वसेन (विश्वसेन) राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम वामा (ब्राह्मी) था। जब उन सोलहवें स्वर्ग के इन्द्र की आयु छह मास की अवशेष रह गई थी, तब इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने माता के आँगन में रत्नों की धारा बरसाना शुरू कर दी थी। रानी ब्राह्मी ने सोलहस्वप्नपूर्वक वैशाख कृष्णा द्वितीया के दिन इन्द्र के जीव को गर्भ में धारण किया था।

नवमास पूर्ण होने पर पौष कृष्णा एकादशी के दिन पुत्र का जन्म हुआ था। इन्द्रादि देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर तीर्थंकर शिशु का जन्माभिषेक करके 'पार्श्वनाथ' यह नामकरण किया था। श्री नेमिनाथ के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। इनकी आयु सौ वर्ष की थी जो कि इसी अंतराल में सम्मिलित है। प्रभु की कांति हरितवर्ण की एवं शरीर की ऊँचाई नौ हाथ प्रमाण थी। ये उग्रवंशी थे।

सोलह वर्ष बाद नवयौवन से युक्त भगवान किसी समय क्रीड़ा के लिए अपनी सेना के साथ नगर के बाहर गये। कमठ का जीव जो कि सिंह पर्याय से नरक गया था, वह वहाँ से आकर महीपाल नगर का महीपाल नाम का राजा हुआ था। उसी की पुत्री वामा देवी भगवान पार्श्वनाथ की माता थीं। यह राजा (भगवान के नाना) किसी समय अपनी पत्नी के वियोग में तपस्वी होकर वहीं आश्रम के पास वन में पंचाग्नियों के बीच में बैठा तपश्चरण कर रहा था। देवों द्वारा पूज्य भगवान उसके पास जाकर उसे नमस्कार किये बिना ही खड़े हो गये। यह देखकर वह साधु क्रोध से युक्त हो गया और सोचने लगा ''मैं कुलीन हूँ, तपोवृद्ध हूँ और इसका नाना हूँ'' फिर भी इस अज्ञानी कुमार ने अहंकारवश मुझे नमस्कार नहीं किया है, क्षुभित हो उसने अग्नि में लकड़ियों को डालने के लिए पड़ी हुई लकड़ी को काटने हेतु अपना फरसा उठाया, इतने में ही अवधिज्ञानी भगवान पार्श्वनाथ ने कहा, ''इसे मत काटो'' इसमें जीव हैं किन्तु मना करने पर भी उसने लकड़ी काट ही डाली, तत्क्षण ही उसके भीतर रहने वाले सर्प और सर्पिणी निकल पड़े और घायल हो जाने से छटपटाने लगे।

यह देखकर प्रभु के साथ स्थित सुभौमकुमार ने कहा कि

तू अहंकारवश यह कुतप करके पाप का ही आस्रव कर रहा है। सुभौम के वचन सुन तपस्वी क्रुधित होकर अपने तपश्चरण की महत्ता प्रकट करने लगा। तब सुभौमकुमार ने अनेक युक्तियों से उसे समझाया कि सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के सिवाय कोई हितकारी नहीं है। जिनधर्म में प्रणीत सच्चे तपश्चरण से ही कर्म निर्जरा होती है। यह मिथ्यातप, जीव हिंसा सहित होने से कुतप ही है। यद्यपि वह तापसी समझ तो गया किन्तु पूर्व बैर का संस्कार होने से अपने पक्ष के अनुराग से अथवा दुःखमय संसार के कारण से अथवा स्वभाव से ही दुष्ट होने से उसने स्वीकार नहीं किया प्रत्युत् 'यह सुभौमकुमार अहंकारी होकर मेरा तिरस्कार कर रहा है' ऐसा समझ वह भगवान पार्श्वनाथ पर अधिक क्रोध करने लगा। पुनः इसी शल्य से मरकर 'शम्बर' नाम का ज्योतिषी देव हो गया।

इधर सर्प और सर्पिणी पार्श्व कुमार के उपदेश से शांतभाव को प्राप्त हुए तथा मरकर बड़े ही वैभवशाली देवता धरणेन्द्र और पद्मावती हो गये।

अनंतर भगवान जब तीस वर्ष के हो गये, तब एक दिन अयोध्या के राजा जयसेन ने उत्तम घोड़ा आदि की भेंट के साथ अपना दूत भगवान पार्श्वनाथ के समीप भेजा। भगवान ने भेंट लेकर उस दूत से अयोध्या की विभूति पूछी। उत्तर में दूत ने सबसे पहले भगवान ऋषभदेव का वर्णन किया पश्चात् अयोध्या का हाल कहा। उसी समय ऋषभदेव के सदृश अपने को तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ है, ऐसा सोचते हुए भगवान गृहवास से पूर्ण विरक्त हो गये और लौकांतिक देवों द्वारा पूजा को प्राप्त हुए। प्रभु देवों द्वारा लाई गई विमला नाम की पालकी पर बैठकर अश्ववन में पहुँच गये। वहाँ दारुवृक्ष के नीचे तेला का नियम लेकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन प्रातःकाल के समय सिद्ध भगवान को नमस्कार करके प्रभु तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षित हो गये।

पारणा के दिन गुल्मखेट नगर के धन्य नामक राजा ने अष्ट मंगलद्रव्यों से प्रभु का पड़गाहन कर आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त कर लिये। छद्मस्थ अवस्था के चार मास व्यतीत हो जाने पर भगवान एक समय देवदारु वृक्ष के नीचे विराजमान होकर ध्यान में लीन हो गये। इसी समय कमठ का जीव शम्बर ज्योतिषीदेव आकाशमार्ग से जा रहा था, अकस्मात् उसका विमान रुक गया, उसे विभंगावधि से पूर्व का बैर बंध स्पष्ट दिखने लगा। फिर क्या था, क्रोधवश उसने महागर्जना, महावृष्टि, भयंकर वायु आदि से महा उपसर्ग

करना प्रारंभ कर दिया, बड़े-बड़े पहाड़ तक लाकर समीप में गिराये, इस प्रकार उसने सात दिन तक लगातार भयंकर उपसर्ग किया।

अवधिज्ञान से यह उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र अपनी भार्या पद्मावती के साथ पृथ्वीतल से बाहर निकला। धरणेन्द्र और पद्मावती ने भगवान को अपने फणाओं के ऊपर उठा लिया और वज्रमय छत्र तान कर स्थित हो गये। आचार्य कहते हैं देखो! स्वभाव से ही क्रूर प्राणी इन सर्प सर्पिणी ने अपने ऊपर किये गए उपकार को याद रखा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष अपने ऊपर किए हुए उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।

तदनंतर ध्यान के प्रभाव से प्रभु का मोहनीय कर्म क्षीण हो गया इसलिए बैरी कमठ का सब उपसर्ग दूर हो गया। मुनिराज पार्श्वनाथ ने चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में लोकालोकप्रकाशी केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्रों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। शंबर नाम का देव भी काललब्धि पाकर उसी समय शांत हो गया और उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। यह देख उस वन में रहने वाले सात सौ तपस्वियों ने मिथ्यादर्शन छोड़कर संयम धारण कर लिया, सभी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो गये और बड़े आदर से प्रदक्षिणा देकर भगवान की स्तुति-भक्ति की। आचार्य कहते हैं कि पापी कमठ के जीव का कहाँ तो निष्कारण वैर और कहाँ ऐसी पार्श्वनाथ की शांति! इसलिए संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियों को वैर विरोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर दस गणधर थे, सोलह हजार मुनिराज, सुलोचना को आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। इस प्रकार बारह सभाओं को धर्मोपदेश देते हुए भगवान ने पाँच मास कम सत्तर वर्ष तक विहार किया। अंत में आयु का एक माह शेष रहने पर विहार बंद हो गया। प्रभु पार्श्वनाथ सम्मेदाचल के शिखर पर छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सिद्धपद को प्राप्त हो गये। इन्द्रों ने आकर मोक्ष कल्याणक उत्सव मनाया। ऐसे पार्श्वनाथ भगवान हमें भी सम्पूर्ण प्रकार के उपसर्गों को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

भगवान पार्श्वनाथ एक दृष्टि में

जन्मभूमि –बनारस (उत्तरप्रदेश)

पिता	–महाराजा अश्वसेन	*माता*	–वामादेवी (ब्राह्मी)
वर्ण	–क्षत्रिय	*गोत्र*	–काश्यप
वंश	–उग्रवंश	*देहवर्ण*	–मरकतमणि सदृश (हरा)
चिन्ह	–सर्प	*आयु*	–सौ वर्ष
अवगाहना	–नौ हाथ	*गर्भ*	–वैशाख कृ. 2
जन्म	–पौष कृ. 11	*तप*	–पौष कृ. 11

दीक्षा वन एवं वृक्ष –अश्ववन एवं देवदारूवृक्ष

प्रथम आहार –गुल्मखेट नगर के राजा धन्य द्वारा (खीर)

केवलज्ञान वृक्ष –देवदारूवृक्ष (अहिच्छत्र तीर्थ)

केवलज्ञान	–चैत्र कृ. 4 (14)	*मोक्ष*	–श्रावण शु. 7

मोक्षस्थल –सम्मेदशिखर पर्वत (स्वर्णभद्रकूट)

समवसरण में चतुर्विध संघ

गणधर	–श्री स्वयंभू आदि 10	*मुनि*	–सोलह हजार
गणिनी	–आर्यिका सुलोचना	*आर्यिका*	–छत्तीस हजार
श्रावक	–एक लाख	*श्राविका*	–तीन लाख
जिनशासन यक्ष	–धरणेन्द्र देव	*यक्षी*	–पद्मावती देवी

भगवान पार्श्वनाथ वर्तमान वीर नि.सं. 2530 से 2780 वर्ष पहले मोक्ष गए हैं। इसमें सौ वर्ष की आयु मिलाने से 2880 वर्ष भगवान को जन्म लेकर हो गये हैं।

अर्घ्य-आओ बच्चों तुम्हें दिखाएं.....

आओ हम सब करें अर्चना, पार्श्वनाथ भगवान की।
जिनकी भक्ती से प्रगटित हो, ज्योती आतमज्ञान की।।वंदे जिनवरम्-4।।
जलगंधादिक अर्घ्य सजाकर, जिनवर चरण चढ़ा करके।
रत्नत्रय युत ''ज्ञानमती'' कर, बसूँ मोक्ष में जा करके।।
इसी हेतु त्रिभुवन जनता भी, भक्ति करे भगवान की।
जिनकी भक्ती से प्रगटित हो, ज्योती आतमज्ञान की।।वंदे जिनवरम्-4।।

ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथतीर्थंकराय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

भगवान पार्श्वनाथ के दशभव

पोदनपुर में महाराज अरविन्द की राजसभा –

राजसभा में दरबार लगा हुआ है। मध्य में स्वर्ण का सिंहासन है। उस सिंहासन के छत्र में वैडूर्य मणि जड़ा हुआ है। जिसकी नीली-नीली आभा चारों तरफ अपना नील प्रकाश फैलाकर राज भवन में मानों नीले-नीले आकाश को ही उतार लाई है। सिंहासन के पृष्ठ भाग में भामंडल के स्थान पर पद्मराग मणियाँ जड़ी हुई हैं, जो कि प्रभात के उदित होते हुए सूर्य की अरुणिमा से दिशाओं को राग से रंजायमान अरुणित कर रही हैं। उस सिंहासन पर महाराज अरविंद बैठे हुए हैं। भवन में सर्वत्र रेशमी वस्त्रों के पर्दे टंगे हुए हैं जो कि मंद-मंद पवन के झकोरों से लहराते हुए गगन में ध्वजाओं के समान प्रतीत हो रहे हैं। मोती, मूँगा जिनके मध्य में गुँथे हुए हैं, ऐसे बेला, चमेली और गुलाब पुष्पों के हार चारों तरफ लटकते हुए अपनी मनोहर सुरभि से सभा भवन को सुरभित कर रहे हैं। मयूर यंत्र सामने कुछ दूर पर खड़ा है, जिसमें चाबी को घुमाते ही वह पंख फैलाकर नाचने लगता है और तभी उसके पंखों से गुलाब जल की छोटी-छोटी फुहारें निकलकर सभा-भवन में सुगंध मिश्रित शीतलता फैला रही हैं। ऊपर में तने हुए चंद्रोपक में मरकत मणियाँ लगी हुई हैं जो कि खेतों के धान्य के अंकुरों की हरीतिमा से बरबस ही दिशाओं को हरित कर रही हैं।

अतिशय कुशल प्रौढ़ मंत्री महोदय गंभीर मुद्रा को लिए हुए आज महाराज अरविंद के निकट आये हैं। महाराज मधुर मुस्कान से उनकी ओर देखते हुए यथोचित आसन पर बैठने का संकेत करते हैं। मंत्री महोदय हाथ जोड़कर विनयवृत्ति को साकार करते हुए पुनः अपने आसन पर बैठ जाते हैं।

'कहिए मंत्रिवर! सर्वत्र राज्य में कुशल तो है ना?'

'हाँ महाराज! आपके प्रसाद से सर्वत्र कुशल मंगल है। सचमुच में इस समय पोदनपुर नगरी आपके प्रसाद को प्राप्त कर साक्षात् भगवान बाहुबली के राज्यसुख का स्मरण किया करती है। शहर में अनीति तो प्रवेश ही नहीं कर पाती है क्योंकि नीतिदेवी ने तो उसका इस शहर से

बहिष्कार ही कर दिया है और उसके लिए यहाँ के ऊँचे-ऊँचे कोटों का उल्लंघन करके अंदर आना सर्वथा अशक्य ही हो गया है। महाराज! शहर के चारों तरफ की जो सुन्दर खातिका है, उसमें खिले हुए सफेद कुमुद पुष्प अपनी सुरभि द्वारा दशों दिशाओं में सर्वत्र आपके उज्ज्वल यश को फैला रहे हैं।'

विश्वभूति मंत्री का वैराग्य –

अरविंद महाराज एकटक मंत्री के मुख को देख रहे हैं। मंत्री जी कुछ क्षण सोचते रहे पुनः बोलते हैं–

'महाराज! आज मैं आप से सदा के लिए विदाई लेने आया हूँ।'

अरविंद महाराज एकदम आश्चर्यान्वित होते हुए बोले–'ऐं!!

मंत्री जी! क्या-क्या, आपने क्या-कहा? क्या मुझसे कोई नाराजगी का प्रसंग आया है?'

'नहीं-नहीं महाराज! आप अन्यथा न सोचें। प्रभो! आपके पिता और पितामह आदि बुजुर्गों ने तथा मेरे माता-पिता, पितामह आदि बुजुर्गों ने जिस आश्रम को अन्त में स्वीकार किया है और जो कि सनातन परम्परा रही है उसी के अनुसार मैं भी अब आपके इस विशाल प्रेम को और गृहवास के कारावास को छोड़कर शाश्वत सुख की खोज में उस संन्यस्त आश्रम से ही प्रेम करना चाह रहा हूँ। महाराज! आप प्रसन्न होइये और मुझे अब शीघ्र ही आज्ञा प्रदान कीजिए।'

महाराज कुछ क्षण के लिए स्तब्ध से हो गये। आकस्मिक आखिर यह घटना क्या है? क्या सचमुच ये ब्राह्मण विश्वभूति अपनी अनुंधरी भार्या को, अपने कमठ और मरुभूति इन युगल पुत्रों को छोड़कर वन में चले जायेंगे? क्या हमारे इस असीम प्रेम को ठुकरा देंगे?

हो सकता है, कोई बड़ी बात नहीं है। जब मनुष्य को वैराग्य हो जाता है तब उसे यह सारा विश्व का सौंदर्य ओसबिंदु के समान चंचल दिखाई देने लगता है, ऐसा मैंने शास्त्रों में पढ़ा है और सुना भी है। तो क्या, ये मंत्री जी उसी वैराग्य को प्राप्त कर चुके हैं? ऐसा अन्तर्द्वंद महाराज के मन में चल ही रहा था कि बीच में ही मंत्री जी, महाराज अरविंद के हृदय के मोह को समझ गये और बोले–

'महाराज! इस संसार में इस जीव का किसके साथ संबंध नहीं हुआ

है? और यह जीव भला किसके स्नेहपाश में नहीं बँध चुका है? भला किसके साथ इसका प्रणय बंधन नहीं हुआ है? जबकि अनंत संसार में अनंत काल से यह जीव घूम रहा है। आज आप मेरे स्वामी हैं, पता नहीं कि अतीत के अनंत भवों में मैंने किस-किसको अपना स्वामी नहीं बनाया है? अथवा मैं स्वयं भी किस-किसका स्वामी नहीं हुआ हूँ? क्या पता मैं कितनी बार कीट, पतंगा आदि क्षुद्र योनियों में गया हूँ? क्या पता कितनी बार मैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि स्थावरकायिक जीवों में जन्म ले लेकर मरता रहा हूँ? क्या पता कि मैंने कितनी बार आपसे भी अधिक वैभवशाली ऐसे महान् राज्य के वैभव भोगे हैं तथा इसी प्रकार से भोगभूमि के, स्वर्गों के सुखों का भी मैंने अनंतों बार अनुभव किया है।

''प्रभो! आज तक भी मुझे शांति नहीं मिली है, बस आज मैं उस अक्षय शांति की खोज में अपने आपको खो देना चाहता हूँ।''

''मंत्रिवर! क्या आपने अपने परिवारजनों से आज्ञा ले ली है? क्या आपके पुत्रों ने खुशी-खुशी आपको वन-वन में भटकने की और घर-घर में भिक्षावृत्ति करने की आज्ञा दे दी है?''

''हे राजन्! जब वे दोनों पुत्र आपकी ही आज्ञा में हैं, तब वे आपके अनुकूल ही चलेंगे पुनः वे आपकी आज्ञा के बाद आज्ञा क्यों नहीं देंगे? अवश्य देंगे। दूसरी बात यह है कि मोही पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू आदि कुटुंबीजन सभी स्वार्थ के सगे हैं अर्थात् सब अपने स्वार्थ के लिए ही रोते हैं और परमार्थ से रोक देते हैं किन्तु अब मैं इन लोगों के रुदन से विचलित होने वाला नहीं हूँ क्योंकि ये लोग मुझे क्या यमराज के मुख से बचा सकेंगे? यदि नहीं, तो फिर इनके मोह में फँसने से क्या लाभ है? अरे! मैंने अनंतकाल तक अनंतों बार परिवारजनों को रोते हुए छोड़ा है। क्या मैंने इस भव से पूर्व में भी अपने पुत्र-पौत्रों को रोते हुए छोड़कर पुनः संभाला था? यदि नहीं, तो अब क्या सोचना है? यह शरीर जड़ है, अशुचि है, विनश्वर है, जरा से जर्जरित होकर गिरने वाला है। इसके पहले ही मैं इस नश्वर शरीर से अविनश्वर सुख का मार्ग प्रशस्त बना लूँ। अब मुझे आप शीघ्र ही आज्ञा दीजिए और इन कमठ कुमार तथा मरुभूति कुमार की रक्षा कीजिए।''

राजा अरविंद विवश हुए किंतु मौन मुद्रा से ही स्वीकृति प्रदान करते हैं और कमठ तथा मरुभूति को परंपरागत से आगत मंत्री पद पर सम्मानित करते हैं।

(1) *कमठ और मरुभूति –*

अरविंद महाराज आज बहुत ही चिंतित हो रहे हैं और मंत्रशाला में बैठे हुए विचार-विमर्श में व्यस्त हैं। अंत में यह निर्णय होता है कि राजा वज्रवीर्य, जो कि निरंकुश हो चुका है, उसको जीतने के लिए अब शीघ्र ही प्रस्थान कर देना चाहिए।

आज्ञा पाते ही सभी सैनिक युद्ध के लिए सज-धज कर तैयार हो रहे हैं। सेनापति ने आकर कहा–

'महाराज! सब व्यवस्था हो चुकी है। अब आप हाथी पर सवार होइये, सामने हाथी खड़ा है।'

'महाराज अरविंद ने पोदनपुर की सारी व्यवस्था की जिम्मेदारी कमठ कुमार मंत्री पर डाल दी और स्वयं मरुभूति कुमार मंत्री के साथ वज्रवीर्य नगर की ओर सेना सहित प्रस्थान कर गये।

माता अनुंधरी की कुक्षि से दोनों ही पुत्र जन्मे थे किन्तु ऐसा प्रतीत होता था कि एक पाप है तो दूसरा पुण्य। एक विष है तो दूसरा अमृत,अथवा एक बक (बगुला) है तो दूसरा हंस, कहने का मतलब यही है कि एक ही गर्भ से दुर्जन और सज्जन दो भाई उत्पन्न हुए थे। कमठ अत्यंत कुटिल परिणामी दुष्टात्मा था और मरुभूति अतिशय सरल स्वभावी धर्मात्मा था। कमठ संपूर्ण कुनीति में कुशल था तो मरुभूति न्याय नीति में अतिशय निपुण था। सच ही है खड्ग और कवच दोनों लोहे के ही होते हैं किन्तु एक देह के खंड-खंड करने वाला है और दूसरा देह की रक्षा करने वाला है।

मंत्री कमठ समय पाकर निरंकुश हो गया और सर्वत्र अन्याय का साम्राज्य फैला दिया । मैं राजा हूँ वह ऐसा सभी से प्रायः घोषित कर चुका था।

किसी समय उसके कानों में किसी युवती के नूपुरों की झंकार आती है-'सामने हंस गति से चलने वाली युवती रत्नों के सुंदर आभूषणों से अपने सौन्दर्य को द्विगुणित करती हुई यह कौन है? क्या यह नागकन्या है? या देवकन्या है? या कोई अप्सरा है? निर्णय होने के बाद.....ओह!! यह तो मेरे लघुभ्राता की भार्या वसुंधरी है। एक क्षण के लिए वह सहम उठा। उसका मन ही उसे धिक्कारने लगा 'अरे रे!! पगले! यह तो अपनी

पुत्रवधू के समान है, यह कैसे मिल सकती है?'

किंतु कुछ मुहूर्त तक भी यह सुन्दरी वसुंधरी सामने न होते हुए भी सामने घूम रही है क्योंकि वह दृष्टि में और मन में बस गई है। मन अत्यंत विह्वल हो रहा है।

निद्रा के न आने से नेत्र एकदम लाल हो रहे हैं। उसी समय मानो मित्र के दुःख को बाँटने के लिए ही सखा कलहंस आ गये। मित्र की ऐसी दुरवस्था को देखकर वह एकदम घबरा गये।

'ओहो मित्र! यह क्या स्थिति बना ली है? और मुझे सूचना तक भी नहीं है कि आपका कुछ स्वास्थ्य अस्वस्थ है। हाँ! मैं शीघ्र ही राजवैद्य को बुलाकर लाता हूँ।'

'नहीं-नहीं मित्र! नहीं, मुझे कुछ व्याधि नहीं है, तुम आओ और मेरे पास बैठो। अरे, राजवैद्य मेरा क्या इलाज करेगा? मेरी औषधि तो तुम्हीं हो, जो कि समय पर आ गये हो।'

कलहंस कुछ देर तक बैठकर इधर-उधर की बात करता है पुनः उसके आकुल-व्याकुल हुए तथा मुरझाये हुए मुखकमल को देखकर धीरे nsrÉlænw

'कहो मित्र! आखिर तुम्हें किस मानसिक व्यथा ने पीड़ित किया है? स्पष्ट कहो, मैं शीघ्र ही उस वेदना का प्रतिकार करूँगा?'

'क्या कहूँ मित्र! जब से मैंने लघुभ्राता की पत्नी उस वसुंधरी को देखा है, तभी से मुझे कामज्वर ने घेर लिया है। अब उस अंगना का स्पर्श कराकर तुम मुझे शीघ्र ही स्वस्थ करो।

इतना सुनते ही कलहंस ने दोनों हाथों से शीघ्र ही अपने दोनों कान बंद कर लिये और पुनः कुछ क्षण ठहर कर बोला—

'कमठ! तुमने यह क्या अतिसाहस का विचार किया है? क्या यह संभव है? क्या राजा अरविंद जैसे न्यायप्रिय और लोकप्रिय राजा के रहते हुए तुम इस अनर्थ में जीवित रह सकते हो? क्या वह पुत्री सदृश वसुंधरी तुम्हारे भोगने योग्य है? और फिर जबकि वह तुम्हारे छोटे भाई की भोगी हुई होने से जूठन सदृश है। मित्र! छोड़ो-छोड़ो, इस दुराग्रहरूपी पिशाच का पल्ला छोड़ो और अपने स्वभाव में आओ! देखो! क्या हमारी भावज 'वरुणा' सौन्दर्य में वसुंधरी से कम हैं। यदि वे इस बात को सुनेंगी कि मेरे पतिदेव मेरी देवरानी पर आसक्त हैं तो वे क्या सोचेंगी? और

अकस्मात् इस चरित्रहीनता से आपकी कितनी हानि होगी? क्या गति होगी? क्या आपने इस पर भी कुछ विचार किया है? यदि नहीं किया है, तो अब शीघ्र ही विचार करो।'

कमठ मित्र कलहंस की शिक्षास्पद बातें सुनकर क्रोध से भभक उठा, उसका चेहरा तमतमा उठा। वह आवेश में आकर बोला—

'मित्र! बस-बस रहने दो, बस तुम्हारी शिक्षाओं को रहने दो, मैं तुमसे भी अधिक शिक्षाओं को जानता हूँ किंतु मैं राजा हूँ, यह वसुंधरी ही क्या, इस पोदनपुर में जो-जो सुंदर वस्तु होगी, उसे भी क्षणमात्र में हस्तगत कर सकता हूँ। मनुष्य को कभी भी मिले हुए अवसर को नहीं चूकना चाहिए। अभी राजा अरविंद और भाई मरुभूति तो अन्यत्र गये हुए हैं। सारी राज्यसत्ता तो मेरे ही हाथ में है। बस शीघ्रता करो, यदि तुम मेरे सच्चे—अभिन्न मित्र हो, तो सत्त्वर ही उस सुन्दरी से मेरा समागम करा दो।

कलहंस अंतःकरण में कुछ अलग ही सोच रहा था किंतु मित्र के इस दुराग्रह को पूर्ण करने के लिए तत्क्षण ही कुछ कूट उपाय सोचने लगा। कुछ क्षण बाद बोला—

'मित्र कमठ! मैं तुम्हारा कार्य बहुत शीघ्र ही सिद्ध किये देता हूँ। तुम चिंता छोड़ो और भोजन करो।'

पोदनपुर के बाहर उद्यान के लताकुंज में वसुंधरी प्रवेश करती है। कमठ गुलाब के पुष्पों की शय्या पर लेटा हुआ है। उसे देखते ही हर्षित मन होता हुआ बोल उठता है—

'आओ, आओ! प्रिय-वल्लभे आओ!! तुम्हारी विरहाग्नि से झुलसे हुए इस शरीर को और मन को शीघ्र ही अधरामृत से सिंचित करो, शांत करो।'

बेचारी वसुंधरी अकस्मात् इस वातावरण को देखकर घबरा गई और काँपने लगी। प्रभो! इस दुष्ट कलहंस ने मुझे कैसे फँसाया? मेरे साथ क्या छल रचा? हाय!! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कैसे मेरी रक्षा होगी? वह सोच ही रही थी, उसे भागने का कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा था। बाहर से किवाड़ बंद कर दिये गये थे। कमठ शीघ्र ही उठकर दोनों हाथों से उठाकर, उसे अपनी पुष्प शय्या पर बिठा लेता है, तब वह साहस बटोर कर बोलती है—

'तात! आप मेरे पतिदेव के बड़े भ्राता होने से मेरे पूज्य पितातुल्य हैं। आपको यह नीच कृत्य करना शोभा नहीं देता है। अरे! सर्वत्र शहर में

आपकी दुष्टता का डंका बज रहा है, फिर उसमें आप और एक कलंकी बनने का साहस कर रहे हैं। मैं इस समय आपसे अपने सतीत्व की, शील की भिक्षा माँगती हूँ।'

'प्राणप्रिये! देखो तो सही, तुम्हारे बिना मेरा रोम-रोम व्यथित हो रहा है। धर्मचर्चा का यह समय नहीं है।

.....कुछ क्षण के अनंतर वसुंधरी ने अपने अमूल्य शीलरत्न को खो दिया और वह मात्र रंकिनी, पापिनी, दुर्गतिगामिनी, कुलटा इस नाम को अपने नाम के साथ लगाकर कुल कलंकिनी हो गई।

प्रणय बंधन में दोनों कुल कलंकियों के दिन गुजर रहे हैं। महाराज वज्रवीर्य को जीतकर वापस आ रहे हैं। वे आज बहुत ही प्रसन्न हैं क्योंकि एक क्षुद्र राजा वज्रवीर्य को अपनी आज्ञा में रखकर उसके द्वारा वज्र, (हीरा) मोती, माणिक्य आदि भेंट में लेकर विजयपताका को लहराते हुए और विजय के नगाड़ों से दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए वापस पधार रहे हैं। सर्वत्र शहर में केला और कदली के पत्तों के द्वार बनाये गये हैं। जगह-जगह तोरण-वंदनवार लटक रहे हैं, जिनमें मुक्ता और मूँगे लगे हुए अपनी श्वेत और रक्त आभा बिखेर रहे हैं। तोरण द्वारों में फूल मालायें लटकती हुई राजा की विजय कीर्ति की सुरभि को द्विगुणित कर रही हैं। शहर की गली में चन्दन के छींटे दिये गये हैं, पुष्प बिखेरे गये हैं। महाराज के स्वागत की जोरदार तैयारियाँ हो रही हैं।

दूसरे दिन राजसभा में महाराज ने मरुभूति से पूछा—'मंत्रिवर! क्या यह बात सही है जो कि गुप्तचरों और विश्वस्त जनों द्वारा हमें मिली है?' मंत्री निरुत्तर किंतु माथा नीचे किये चुपचाप खड़े रहे। पुनः राजा पूछते हैं—''तो फिर बताओ, उस दुष्ट कमठ को क्या दंड देना चाहिए?''

'महाराज! एक बार आप उसे क्षमा प्रदान करें, मेरी यही आपसे विनती है।'

'क्षमा, क्षमा!! अशक्य है, असंभव है। मंत्री जी! व्यभिचार जैसे पाप में भाई, बंधु और पुत्र का मोह न्यायसंगत नहीं है। न्यायप्रिय राजा अन्याय में अपने पुत्र को भी प्राणदंड देने से नहीं चूकते हैं और तभी वे यशस्वी होते हैं।

अनंतर राजा की आज्ञा से कोतवाल ने कमठ का सिर मुँडाकर, मुख पर काला पोत दिया और उसे गधे पर बिठाकर सारे शहर में घुमाया। उसके

आगे-आगे ढोल बजाया जा रहा था कि 'ऐसा दुष्कर्म जो भी करेगा, उसको ऐसा ही दण्ड दिया जावेगा।' कमठ के इस अपमान को देख-देखकर कुछ लोग हँस रहे थे, कुछ लोग निंदा कर रहे थे और बच्चे पीछे-पीछे दौड़कर कंकड़ मार रहे थे। कोतवाल ने इस विधि से उसे अपमानित करके देश से निकाल दिया। सो ठीक ही है क्योंकि अतितीव्र पाप तत्काल ही उदय में आ जाया करते हैं और तभी तो लोग पाप से डरते हैं अन्यथा क्यों डरें? इस प्रकार फूले हुए पापतरु को सभी संसार ने देखा, आगे इसमें नरक फल लगेगा अतः दुर्व्यसनों को पुनः-पुनः धिक्कार है।

महादण्ड को भोगकर कमठ का मुखकमल अपमान की अग्नि से झुलस गया था। वह भूताचल पर्वत पर तापसियों के आश्रम में पहुँचा। वहाँ पर सभी तापसी समीचीन ज्ञान के बिना मात्र अपने शरीर का शोषण कर रहे हैं। कोई वृक्ष में लटक कर अधोमुख झूलते हुए नीचे जलती अग्नि का धूम्रपान कर रहे हैं, कोई पंचाग्नि तप कर रहे हैं। (चारों तरफ अग्नि जलाकर और वृक्ष में छींके पर बैठ जाना तथा नीचे भी अग्नि जला लेना यह पंचाग्नि तप है।) कोई मौन से बैठे हैं, कोई शरीर में भस्म रमा रहे हैं, कोई मृगछाला को तन में लपेटे हुए हैं, कोई नख को बढ़ाये हुए हैं और कोई जटाओं के भार से सिर को बोझिल बनाये हुए हैं। ये साधु स्व-पर दया से शून्य हैं। अहिंसा के मर्म को नहीं समझ सके हैं। उन्हें नमस्कार कर प्रमुख गुरु के पादमूल में पहुँचकर कमठ ने भी दीक्षा ले ली और हाथ में पत्थर की शिला लेकर खड़ा होकर तपश्चरण करने लगा। उस समय ऐसा लगता है कि मानों वैराग्य और विवेक से शून्य क्रोधित हुए सर्प ने ही अपना फण ऊँचा उठा रखा है।

मरुभूति भाई से मिलने की उत्कंठा से और क्षमा कराकर वापस घर लिवा लाने की भावना से, जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाते हुए जा रहा है। दूर से तापसियों के बीच प्यारे भाई को देखकर-पहचान कर तथा उसकी ऐसी रुक्ष और विवर्ण दशा को देखकर दुःखी हुआ। मरुभूति कमठ के निकट पहुँचा। हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा—

'हे भाई! तुम्हारा हृदय विशाल है। जो कुछ हुआ, वह सब अपराध क्षमा करो और घर चलो। हे बंधु! तुम्हारे बिना मुझे घर में अच्छा नहीं लगता है। इतना बोलते हुए वह मरुभूति सरल मन से कमठ के पैरों में गिरकर नमस्कार करने लगा। बस उसी समय कमठ के मन में अत्यंत

क्रोध उत्पन्न हुआ। अरे, यह दुष्टात्मा! पहले तो मुझे खूब ही अपमानित करा चुका है और अब बातें बना कर सफाई पेश करने आया है। क्रोध में अंधे हुए उस कमठ तापसी ने तत्क्षण ही अपने हाथ की शिला को उस छोटे भाई के सिर पर पटक दिया। सहोदर के सिर पर उस वज्रसदृश शिला के पड़ते ही खून के फव्वारे निकल पड़े। निकट ही तपस्या में रत हुए साधुओं से यह कुकृत्य न देखा गया। वे लोग उठ पड़े और हा-हाकार करने लगे। प्रमुख तापसी गुरु ने आकर इस निंद्य कृत्य को देखते हुए उस कमठ की बार-बार निन्दा की और तर्जना करते हुए उसे तत्क्षण ही आश्रम से बाहर निकाल दिया।

वहाँ से निकलकर यह दुष्ट पापी वन में पहुँचा और भीलों में मिल गया, उनके साथ चोरी-डकैती करने लगा। एक बार कोतवाल ने इन भीलों को चोरी करते पकड़ लिया और बुरी तरह बाँधकर इन पर मार पड़ी। सो ठीक ही है, जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। क्या कभी इन्द्रायन की बेल में आम्र फल लग सकते हैं? अर्थात् नहीं लग सकते हैं। देखो! तप्त हुए तवे पर यदि स्वाति जल की बूँद गिर जाती है तो वह विनष्ट हो जाती है, वही बूँद यदि कमलदल का सत्संग करती है तो मोती के समान दिखने लगती है, वही बूँद यदि सागर के सीप में जाती है तो मुक्ताफल हो जाती है। ऐसा संगति का प्रभाव प्रत्यक्ष में सभी को दिख रहा है। इस प्रकार से नीच की संगति से नीच फल मिलता है, मध्यम की संगति से मध्यम फल होता है और उत्तम के संसर्ग से सदैव उत्तम फल प्राप्त होता है।

(2) *मरुभूतिचर हाथी को देशसंयम की प्राप्ति –*

अतिसघन सल्लकी नामक वन में विशाल मुनिसंघ ठहरा हुआ है। कहीं ऊँचे-ऊँचे वृक्षों के नीचे कुछ मुनि मिलकर स्वाध्याय कर रहे हैं, कहीं सिकतास्थल की शुद्ध-भूमि में कोई-कोई मुनि अपनी शुद्धात्मा के ध्यान में निमग्न होकर परमसमरस का पान कर रहे हैं, कहीं कुछ मुनि जिनेन्द्रदेव की आराधना में तत्पर हो स्तुति से दिशाओं को मुखरित कर रहे हैं और वहीं पर मर्कट अपनी चंचलता को प्रगट करते हुए वृक्षों की डाल से झूलते हुए स्तुति को श्रवण कर रहे हैं, कहीं सिंह-व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तु विचरण कर रहे हैं, कहीं श्रावक, श्राविकायें

भोजन बनाने की व्यवस्था में व्यस्त हैं, तो कहीं श्रावक भगवान की पूजा में संलग्न हो रहे हैं। संघ शिरोमणि आचार्य श्री अरविंद मुनिराज एक शुद्ध पाषाणशिला के ऊपर प्रतिमायोग से विराजे हुए निजात्मा का चिंतन कर रहे हैं।

उसी समय एक वज्रघोष नाम का विशालकाय हाथी उस विशाल संघ में क्षोभ उत्पन्न करता हुआ विचरण करने लगा। सकल संघ में खलबली मच गई। वह काल के समान विकराल हाथी इधर-उधर दौड़ रहा है। उसके धक्के से जो मनुष्य गिरा, सो उसी के पैर के नीचे दबकर परलोक सिधार गया, उस पर क्रूर हाथी ने कितने ही घोड़ों को मार गिराया, कितने ही गाय-बैलों को मृत्यु के घाट उतार दिया, कितने ही ऊँटों को गिरा दिया जो कि बेचारे पुनः नहीं उठ सके। पाकशाला में व्यस्त हुई महिलाओं को त्रस्त कर दिया। सभी श्रावक चिंतित होकर इधर-उधर भागे और मुनि संघ पर आये हुए उपसर्ग का कैसे निवारण हो, ऐसा उपाय सोचने लगे। वह मत्त हुआ हाथी अपने कपोलों से मदजल को बरसाता हुआ मुनिराज अरविंद के सन्मुख आ गया। सर्वत्र हा-हाकार मच गया। सूरिवर्य गुरुदेव (अरविन्द मुनिराज) सुमेरु पर्वत के समान अचल स्थित थे, उनके वक्षस्थल में श्रीवत्स का चिह्न था। उसको देखते ही उस गजराज को जातिस्मरण हो गया। यह क्या? वह क्रूर हाथी तो एकदम शांत हो गया और मुनिराज के चरणों में मस्तक टेक दिया। अब मुनिराज कहते हैं–

'हे गजराज! तुमने यह क्या किया? अरे! यह हिंसा कर्म महान् दुःखमय ऐसी दुर्गति को देने वाला है। हिंसा के पाप से ही ये जीव संसार रूपी भयंकर वन में भटकते रहते हैं। यह हिंसा स्व और पर दोनों को ही दुखदायी है। अहो! तुमने ब्राह्मण के पुत्र मरुभूति मंत्री की पर्याय से मरकर यह तिर्यंच योनि पाई है। अरे! यह आर्तध्यान का, भाई के प्रति ममत्व परिणाम का ही फल है। मैं अरविंद राजा तुम्हारा स्वामी था। मैंने तुम्हें बार-बार मना किया कि तुम उस दुष्ट कमठ से मिलने मत जावो क्योंकि दुर्जन और श्लेष्मा ये दोनों जगत् में समान ही होते हैं। जैसे-जैसे इन्हें मधुरता दी जाती है वैसे-वैसे ही ये दोनों अधिक कुपित होते जाते हैं। उस दुष्ट तापसी ने तुम्हारे सिर पर शिला पटक दी। तुम भाई के मोहरूपी आर्त परिणाम से मरकर इस गजयोनि में आ गये हो और उस कमठ की भार्या वरुणा भी कालांतर में मरकर तुम्हारी हथिनी हुई है, जिस भावज को तुमने माता के समान समझा

था आज तुम उसी के साथ रमण करते हुए सुखी हो रहे हो। अरे, करिपति! देखो, देखो, संसार की विचित्रता को तो देखो!'

उस समय हाथी के नेत्रों से अश्रु की धारा बहने लगी, सो ऐसा मालूम होता था कि अंतरंग से मिथ्यात्व और दुर्ध्यान ही अश्रुजल के बहाने निकला जा रहा है और तभी तो उसमें सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा धर्मध्यान को ठहरने की जगह मिल सकेगी। मुनिराज और भी कह रहे हैं–

'हे गजेन्द्र! मैंने तुम्हारे वियोग से दुःखी हो अवधिज्ञानी महामुनि से पूछा था कि मेरा प्रिय मंत्री मरुभूति अभी तक क्यों नहीं आया? तब उन्होंने सारी घटना सुनाई थी।

पुनः एक दिन मैं अपने प्रासाद की उपरिम छत पर बैठा हुआ प्राकृतिक सुषमा का अवलोकन कर रहा था कि अकस्मात् आकाश में मेघपटल से निर्मित एक सुन्दर मंदिर दिखाई दिया, जिसका शिखर अतिशय उन्नत और रमणीक था। उसे देखते ही मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ऐसा सुन्दर जिनमंदिर बनवाना चाहिए। बस, मैंने हाथ में कागज और कलम उठाई, उसका चित्र खींचने के लिए, कि ऊपर दृष्टि डालते ही वह सुन्दर भवन विघटित हो गया। तत्क्षण ही मुझे संसार की स्थिति का सच्चा ज्ञान हो गया। यह विशाल राज वैभव इसी मेघ पटल के बने हुए सुन्दर भवन के समान अस्थिर है। यह यौवन भी बिजली के समान चंचल है, फिर भी मोही प्राणी इन्हें स्थिर मान कर इन्हीं में रच-पच रहा है। उस समय मैंने प्रबुद्ध होकर सभी राज्यभार अपने सुपुत्र को सौंपकर निर्ग्रंथ गुरु के सान्निध्य में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। इस समय मैं चतुर्विध संघ सहित सम्मेद शिखर महातीर्थ की वंदना के लिए जा रहा हूँ। सम्मेद शिखर तीर्थ की एक बार भी वंदना करने वाले जीव, भव्य ही होते हैं यह नियम है, उस तीर्थराज की वंदना करने से नरक और तिर्यंच गति टल जाती है। यहाँ तक कि भव्य जीव 49 भव के भीतर ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इससे अधिक भव धारण नहीं कर सकते हैं।

गजराज! अब तुम मिथ्यात्वरूपी विष का वमन करो और पाँचों पापों को छोड़ो। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महल में चढ़ने के लिए पहली सीढ़ी है, अनंतसुख का मूल है अथवा अनंतगुणरूपी कल्पवृक्ष का बीज है। अष्टादश दोष रहित जिनदेव ही सच्चे देव हैं, दयामयी धर्म ही सच्चा धर्म है और निर्ग्रंथ दिगंबर गुरु ही सच्चे गुरु हैं। बस, इन्हीं का दृढ़ श्रद्धान

करना, इनके सिवाय रागद्वेषादि मैल से मलिन ऐसे देव को, दया रहित धर्म को और पाखंडी साधुओं को नहीं मानना ही सम्यग्दर्शन है। शंकादि पच्चीस मल दोष रहित सम्यग्दर्शन ही मोक्ष के लिए कार्यकारी है। निःशंकित आदि आठ अंग हैं, इनके बिना यह दर्शन संसार की बेल को उखाड़ने में समर्थ नहीं है। जैसे कि एक भी अक्षर से न्यून हुआ मंत्र विष की वेदना को दूर नहीं कर सकता है।

पंच उदंबर फल, (बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कठूमर) मद्य, मांस और मधु का त्याग करो, संकल्पी हिंसा का त्याग करो, असत्य भाषण, चोरी और कुशील का त्याग करो तथा परिग्रह तो तुम्हारे पास कुछ है ही नहीं, फिर भी हे गजराज! तुम अपनी आशाओं पर नियंत्रण करो, इच्छाओं का प्रमाण करो। इन पाँच पापों के एकदेश त्याग से पाँच अणुव्रत कहलाते हैं। इनकी रक्षा करने वाले सात शील हैं जो कि 3 अणुव्रत और 4 शिक्षाव्रत रूप हैं। उन्हें भी ग्रहण करो, तुम इन व्रतों के प्रभाव से, नियम से देवगति को प्राप्त करोगे क्योंकि यह नियम है–

अणुवद महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं।

देवायु के सिवाए अन्य आयु के बँध जाने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रत को ग्रहण नहीं कर सकता है।

अर्थात् जो अणुव्रती या महाव्रती है, वह नियम से देवगति में ही जावेगा, अन्यत्र तीन गति में जा नहीं सकता अथवा कदाचित् महाव्रती महामुनि है तो मोक्ष भी जा सकता है।'

इस प्रकार से गुरुदेव ने विस्तार से सम्यक्त्व और व्रतों का उपदेश दिया। तब हाथी उन व्रतों को ग्रहण करके अपने हर्ष को व्यक्त करते हुए बार-बार गुरुदेव को नमस्कार करने लगा। बार-बार पृथ्वी तल पर मस्तक टेक-टेक कर अपनी श्रद्धा भक्ति प्रकट करने लगा।

'यह गजराज श्रावक हो गया है' ऐसा जानकर श्रावकों ने उसे मिष्ठान्न आदि खिलाकर प्रासुक जल पीने को दिया। वहाँ से जब संघ का विहार हुआ, तब हाथी भी कुछ दूर तक संघ के साथ जाकर गुरुदेव को पहुँचा कर आया और गुरु के पादकमल का स्मरण करते हुए वहीं सल्लकी वन में रहने लगा।

अब हाथी संयमासंयम को साध रहा है, वह सम्यग्दृष्टि है, वह भूलकर भी त्रस जीव की विराधना नहीं करता है, सभी प्राणियों पर

समभाव धारण किये हुए है, जो कोई क्षुद्र जंतु उसे सताते हैं, उनके प्रति पूर्ण क्षमा धारण करता है। अपने शरीर को कृश करते हुए इन्द्रियों का दमन कर रहा है, साहसपूर्वक प्रोषध व्रत पालन करता है, सूखे तृणपत्तों का भक्षण करता है, दूसरे पशु जिस मार्ग से चल चुके हैं ऐसे मर्दित हुए प्रासुक मार्ग से गमन करता है, जिस तालाब में अन्य हाथी आदि पानी को विलोडित कर देते हैं, उस प्रासुक हुए पानी को पीता है, बिना देखे पृथ्वी पर पैर नहीं रखता है और अपने तन पर पानी, कीचड़ आदि नहीं डालता है। अपने शील व्रत को पालन करने में कुशल वह हाथी हथिनी के पास भी नहीं जाता है। वह उस निर्जन वन में अन्य जंतुओं द्वारा किये गये उपसर्गों को सहन करने में समर्थ होता हुआ अपने मन में किंचित् भी दुर्ध्यान को नहीं लाता है। पाप के भय से अपने शरीर को काष्ठ के समान निश्चल रखता है, बार-बार इधर-उधर सूँड-पूँछ आदि हिलाता-डुलाता नहीं है। इस प्रकार बहुत काल तक दुर्द्धर तप करते हुए उसकी शक्ति क्षीण हो गई, फिर भी वह पंच परमेष्ठी के चिंतवन में अपने मन को क्षीण नहीं करता है।

एक दिवस वह करीन्द्र अधिक प्यासा हुआ वेगवती नदी के तट पर आया और सूँड से फूँक करके जल को प्रासुक किया, पुनः जल पीने लगा किन्तु उस नदी के किनारों पर कीचड़ अधिक था, उस कीचड़ में हाथी का पैर फँस गया। अब उसका उसमें से निकलना कठिन था। सच ही है जब कुंजर ही कीच में फँस जाये, तब उसे निकालने वाला कौन हो सकता है? उस समय वह गजपति श्रावक मन में सोचने लगा—'अब मुझे इस अथाह कीच से कोई निकालने वाला नहीं है जैसे कि मोहरूपी कीच में फँसे हुए संसारी जीव को इस संसाररूपी अथाह समुद्र से निकालने वाला कोई नहीं है। हाँ! यदि मैं सल्लेखनारूपी बन्धु का सहारा ले लूँ तो वह मुझे अवश्य ही यहाँ से निकालकर उत्तम देवगति में पहुँचा सकता है।'

ऐसा निश्चय कर गजराज ने चतुराहार का जीवन भर के लिए त्याग करके महामंत्र का स्मरण करते हुए पंच परमेष्ठी का ही अवलम्बन ले लिया। कुछ ही काल बीता था कि एक कुक्कुट जाति का साँप वहाँ आ गया। उसने पूर्व जन्म के संस्कारवश उस हाथी को डस लिया। वह उस वेदना से व्याकुल होने लगा किन्तु गुरु द्वारा प्राप्त हुए उपदेश से आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है। ऐसा वाक्य मंत्र स्मरण करते हुए वह शरीर से

पृथक् अपनी आत्मा को ज्ञान पुंज, शुद्ध समझने लगा तथा पंचपरमेष्ठी के पाद कमलों के ध्यान से अपने परिणामों को स्थिर करके धर्मध्यानपूर्वक इस नश्वर देह से निकलकर (मरकर) बारहवें स्वर्ग में स्वयंप्रभ विमान में उपपाद शय्या से उत्पन्न होकर 'शशिप्रभ' नाम का देव हो गया।

(3) *सहस्रार स्वर्ग में शशिप्रभ देव –*

स्वर्गपुरी का स्थान है—

वह देव सोलह वर्ष के राजकुमार के समान ही अपनी शय्या से उठ खड़ा हुआ। तमाम देवगण और देवांगनाएँ सम्मुख व इर्द-गिर्द खड़े हुए हैं, वे सब मधुर मुस्कान को लिए हुए हैं। सामने के कल्पवृक्षों से खिले हुए सुमन समर्पित हो रहे हैं। मानों वे नूतन देवराज के स्वागत के लिए पुष्पांजलि बिखेर रहे हैं। वहाँ की सौरभ व सुषमा को देखकर वह देव एक क्षण के लिए आश्चर्यान्वित हो जाता है पुनः उसे तत्क्षण ही अवधिज्ञानरूपी तीसरा नेत्र प्रगट हो जाता है। जिससे उसे स्पष्ट झलक जाता है कि.....

"मैं हस्तीचर हूँ, ओहो!! यह स्वर्गपुरी है और यह अतुल वैभव, ये देवांगनाएँ, ये परिवार देव, यह सब पुण्य का प्रसाद है। मैंने गुरुदेव के द्वारा जो सम्यक्त्वरूपी रत्न और अणुव्रतरूपी निधि प्राप्त की थी, उसी के फलस्वरूप यह तेजोधाम प्राप्त हुआ है।"

तब तक सभी देव, देवीगण अभिवादन करते हुए बोले—"हे स्वामिन्! आप जिनशासन के प्रभाव से इस उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त हुए हैं। अब उठिये और मंगल स्नान कीजिये पुनः वस्त्रालंकार से भूषित होकर जिनेन्द्र भवन में जिन प्रतिमाओं की पूजन कीजिए। अनन्तर अपने वैभव का निरीक्षण कीजिए और उत्तम-उत्तम भोगों का अनुभव कीजिए।"

शशिप्रभदेव ने भी अपनी प्रसन्नता से सबको प्रसन्न करते हुए यथोचित क्रिया करके पहले जिनपूजा की। उसकी सोलह सागर की आयु है, साढ़े तीन हाथ का शरीर है जो कि वैक्रियक होने से अतिशय सुन्दर है। सोलह हजार वर्ष के व्यतीत होने पर भोजन की इच्छा होती है और उसी समय कंठ से अमृत झर जाता है, जिससे उसकी तृप्ति हो जाती है, यह अनुपम मानसिक आहार है, सोलह पक्ष (8 महीना) बीतने के बाद वह देव श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है। चतुर्थ नरकपर्यंत उसका अवधिज्ञान जान

रहा है और अणिमा, महिमा आदि आठ ऋद्धियाँ उसके पास विद्यमान हैं।

अहो! इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो कि जंगली पशु गजराज आज स्वर्ग के वैभव का स्वामी बन गया है। यह सब केवल तपरूपी कल्पवृक्ष का ही सुफल फलित हुआ है।

कभी वह देव सुदर्शन मेरु पर जाकर सोलह चैत्यालयों की वंदना करता है, कभी वह नन्दीश्वर द्वीप में बावन चैत्यालयों में पूजा करता है, कभी तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के अवसरों पर भक्तिभाव से भाग लेता है, कभी चारणऋद्धिधारी मुनियों की वंदना करके उनसे उपदेश सुनता है, कभी अपने सच्चे गुरु अरविंद मुनिराज की पूजा करता है, कभी यहाँ पर आकर सम्मेदशिखर पर्वत की वंदना करके असीम पुण्य संचित कर लेता है।

कभी अपनी देवांगनाओं के साथ क्रीड़ा भवन में क्रीड़ा करता है, कभी नंदन वनों में विचरण करते हुए अपूर्व पुण्य के फल का उपभोग करता है। सुंदर-सुंदर गीतों से, नाना प्रकार के वादित्रों से, अनेक रस, हास्यमय अलंकारों से वे देवियाँ भी शशिप्रभदेव का मनोरंजन किया करती हैं।

.....हाँ, सुनो! तो वह कुक्कुट सर्प भी आखिर कहाँ है? किस स्थिति में है?

क्या पाप का, हिंसा का अथवा बैर का फल कभी किसी को मधुर मिला है? यदि नहीं, तो वह बेचारा कमठचर सर्प भी आखिर उस पाप के कटुक फल से कैसे बच सकेगा?

हाँ! तो वह सर्प अपनी आयु पूर्ण करके रौद्रध्यानरूप अशुभ परिणामों से मरा और पाँचवें नरक में जा गिरा। वहाँ अधोमुख गिरते ही उछला और फिर गिरा.....वहाँ की पृथ्वी का स्पर्श भी इतना भयंकर है कि मानों हजारों बिच्छुओं ने एक साथ ही डंक मार दिया हो। वहाँ की दुर्गन्धित मिट्टी यदि यहाँ आ जाये तो कई कोसों तक जीव मर जावें, वहाँ के दुःखों का वर्णन यदि करोड़ों जिह्वा बनाकर भी सरस्वती देवी करने लगे, तो भी वह असमर्थ हो जावेगी। वहाँ पर इस नारकी ने जीव हिंसा आदि पाप कर्म के निमित्त जन्म लिया है। इसलिए इसे उसका फल तो भोगना ही है अतः वहाँ इसकी आयु भी सत्रह सागर प्रमाण है।

(4) *अग्निवेग विद्याधर –*

बहुत कुछ समय निकल जाने के बाद विद्युत्गति विद्याधर राजा की रानी विद्युन्माली की गोद में पुण्यशाली शिशु किलकारियाँ भर रहा है। माता अपने पुण्य के फलस्वरूप पुत्र को गोद में लेकर फूली नहीं समाती है।

राजसभा में विद्याधर-सभासद, बालक को हाथों-हाथ ले लेते हैं और विजयार्ध पर्वत के भावी महाराज को अपने अंक में लेकर भावविभोर हो उठते हैं।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश प्रसिद्ध है, उसमें चक्रवर्ती अर्धविजय को सूचित करने वाले रजतमय पर्वत विजयार्ध पर एक लोकोत्तम नाम का नगर है। उस नगर का भावी पालक यह शिशु अग्निवेग इस नाम को सुशोभित कर रहा है।

यह बालक अतिशय पुण्यशाली क्यों नहीं होगा, क्योंकि यह बारहवें स्वर्ग के शशिप्रभ देव की पर्याय से च्युत होकर यहाँ जन्मा है। इसीलिए तो यह अतुल वैभव का स्वामी है।

सौम्य प्रकृति का धारक यह शिशु, दूज के चन्द्रमा के समान वृद्धिंगत होता हुआ सभी नगरवासियों के मन और नेत्रों को हरण कर रहा है। फिर भी यह जिनदेव के चरण कमल का भ्रमर है, नित्य ही जिन भक्ति में अपने को समर्पित कर चुका है। राज्य संपदा को भोगते हुए सहसा भरी जवानी में ही एक दिन समाधिगुप्त मुनिराज के समीप धर्मश्रवण कर पंचेंद्रिय विषयों को विषवत् विषम समझकर तत्क्षण ही तृणवत् उनका त्याग कर दिया और पंचमहाव्रतों को प्राप्त कर अपने आप में कृतकृत्यता का अनुभव करने लगा।

अब वे अग्निवेग महामुनि घोर-घोर तपश्चरण करने लगे। सर्वतोभद्र आदि श्रेष्ठ उपवासों के द्वारा शरीर को क्षीण करते हुए भी वे गात्रमात्र, परिग्रहधारी निर्ग्रंथ साधु निजात्मा के अनुभव रूप परमानंदामृत को पीकर तृप्त हो रहे थे। वे अनंतगुणों के पुंजस्वरूप केवलज्ञानमयी अपनी शुद्धात्मा का ध्यान किया करते थे।

एक दिन वे महामुनि हिमगिरि पर्वत की गुफा के भीतर योग में लीन थे। वहाँ एक अजगर सर्प आता है, मुनि को देखते ही वह क्रोध से भयंकर होकर उन्हें निगल लेता है।

मुनिराज परम समता भाव से इस नश्वर शरीर से छूटकर सोलहवें स्वर्ग के पुष्कर विमान में देव हो जाते हैं। वहाँ पर देव-देवांगनाओं के द्वारा सेवित असीम वैभव को प्राप्त कर लेते हैं।

(5) *अच्युत स्वर्ग में देव –*

वहाँ पर स्वर्ग में कहीं तो नंदन वन अपने सुगंधित कल्पवृक्षों के फूलों से दिशाओं को सुरभित कर रहे हैं, कहीं पर छोटी-छोटी बावड़ियाँ हंस और मयूर जैसे जलयंत्रों से जलकेलि के समय चारों तरफ उज्ज्वल जल की बूँदें बरसाती हैं, कहीं पर चित्रशाला में नाना प्रकार के चित्र अचेतन होकर भी सचेतन देवों को अपने वश में कर लेते हैं, इत्यादि सुषमा के साथ-साथ विक्रिया के माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए देव-देवीगण भी अपने-अपने स्वामी का मनोरंजन किया करते हैं। वहाँ पर उस अच्युत देव की आयु बाईस सागर प्रमाण है। कितने हजार वर्ष व्यतीत होने पर ही उन्हें मानसिक आहार होता है तथा कितने ही पक्ष बाद वह श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है। तीन हाथ का ऊँचा सुन्दर, सात प्रकार धातु और उपधातु से रहित दिव्य वैक्रियक शरीर है। यह सब पुण्य का ही वैभव है।

इधर वह अजगर सर्प मुनि हत्या के घोर पाप से तथा और भी जीव हिंसा आदि क्रूर परिणामों से आयु व्यतीत कर मरा और सीधे छठे नरक में उत्पन्न हुआ, वहाँ बाईस सागर की आयुपर्यंत अनंत दुःखों को भोगता रहा।

अहो!! एक भाई सरल और धर्म के परिणाम से स्वर्ग के व विद्याधर के सुखों को, पुनरपि स्वर्ग के सुखों को भोग रहा है। एक बेचारा कुटिल तथा कुत्सित पाप परिणामों से नरक के और तिर्यंच के, पुनरपि नरक के अनंत दुःखों का अनुभव कर रहा है क्योंकि पुण्य और पाप के संस्कार अथवा वैर के संस्कार कितने ही जन्म तक चलते चले जाते हैं।

(6) *वज्रनाभि चक्रवर्ती –*

पट्टरानी विजया का राजमहल है–

उषाकाल की लालिमा पूर्व दिशा में खिलने वाली है। पता नहीं क्यों? नक्षत्र और तारागण यत्र-तत्र पलायमान होते चले जा रहे हैं।

शायद मालूम होता है कि पक्षियों के कलकलरव, भेरी नाद के द्वारा अपने स्वामी चन्द्रमा के प्रतिपक्षी भास्कर के उदित होने की सूचना पाकर ही वे भय से विलीन हो रहे हैं क्योंकि जब स्वामी स्वयं ही भय से निस्तेज हो रहा है, तब प्रजा का कहाँ ठिकाना रहेगा?

भवन में चारों तरफ रंग-बिरंगे रत्न जड़े हुए हैं, जो कमरे के अंदर भी इन्द्रधनुष की कल्पना प्रगट कर रहे हैं। सिराहने पलंग में लगी हुई पद्मराग मणि तो मध्यरात्रि में भी अपनी स्वर्णिम आभा से सूर्य के प्रकाश को फैला रही थी पुनः अब मानों सूर्यदेव के प्रभाव को न फैलने देने के कारण ही अपनी किरणों का तेज बिखेर रही है।

सखियाँ प्रभाती गा रही हैं, वीणा की मधुर ध्वनि के साथ-साथ ही मधुर वाणी से प्रभु का गुण स्तवन करते हुए रानी विजया देवी को निद्रा देवी की गोद से अलग करने का साहस कर रही हैं।.....

"श्रीमन्नतामरकिरीटमणि प्रभाभि-रालीढ पादयुगदुर्द्धर कर्मदूर!
श्रीनाभिनन्दनजिनाजितसंभवाख्य! त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं तव सुप्रभातं।।"

विजया देवी चंद्रमा की चाँदनी के समान धवल, अतिशय स्निग्ध, कोमल और स्फटिक मणि के समान स्वच्छ बारीक चादर को अपने ऊपर से हटाती हैं और महामंत्र का स्मरण करते हुए उठकर, पूर्व दिशा की ओर मुख करके, कुछ क्षण ध्यान मुद्रा में बैठ जाती हैं। कायोत्सर्ग करके जिनदेव की स्तुति पढ़कर, अपनी सखियों की तरफ प्रसन्न मुद्रा से अवलोकन करती हैं।.....

प्रभातकालीन क्रियाओं से निवृत्त होकर महारानी सखियों के साथ राजसभा में प्रवेश करके महाराज वज्रवीर्य नरेन्द्र का यथायोग्य अभिवादन करती हैं और महाराज के द्वारा निर्दिष्ट आसन पर बैठ जाती हैं और निवेदन करती हैं.....।

"देव! आज रात्रि के पिछले प्रहर में मैंने कुछ सुंदर स्वप्न देखे हैं। मेरी आन्तरिक प्रसन्नता का यही कारण है, मुझे कौतुक हो रहा है कि इन उत्तम स्वप्नों का क्या फल है? हे आर्य! कृपा कर अपने मुख चन्द्र की वचन किरणों से उनका फल स्पष्ट बताकर मेरे हर्ष समुद्र को वृद्धिंगत कीजिये।"

"कहिये देवी! उन स्वप्नों को कहिये?"

"पहले सुदर्शन मेरु को देखा है, पुनः सूर्य देखा है, पुनः चंद्रमा देखा है, अनन्तर देवविमान देखा है और बाद में बहुत ही विशाल सुन्दर

जल से परिपूर्ण भरित सरोवर देखा है, ऐसे ये पाँच स्वप्न देखे हैं।''

राजा ने क्षणभर मन में कुछ सोचा। अनन्तर अपने दाँतों की किरणों से अमृत को झराते हुए ही हँसते हुए बोले-

''प्रिये! तुम अतिशय पुण्यशालिनी हो। ये स्वप्न यह बात स्पष्ट कह रहे हैं कि तुम चक्रवर्ती पुत्र रत्न को जन्म दोगी।''

इतना शब्द सुनते ही रानी का सारा शरीर रोमांच से पुलकित हो उठा। उन्हें ऐसा आभास हुआ कि मानों साक्षात् ऐसे पुत्र को प्राप्त ही कर लिया है।

नव महीने व्यतीत होने के बाद एक दिन सभा में एक दासी पहुँच कर पुत्र के जन्मोत्सव का उत्तम समाचार सुनाती है।

सभा में हर्ष की लहर दौड़ जाती है। महाराज उस सूचना देने वाली महिला को रत्नहार, वस्त्र, आभूषण, धन आदि देकर उसे सदा के लिए धनी और सुखी बना देते हैं।

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में पद्म देश है, उसके अश्वपुर नगर में सर्वत्र हर्ष का ही वातावरण बन जाता है, शहर में चारों तरफ वन्दनवार, तोरण बाँधे जा रहे हैं। सर्वत्र बाजे बज रहे हैं, खुशियाँ मनाई जा रही हैं। राजा ने उस समय इतना दान बाँटा कि सभी जन तृप्त हो गये, भण्डार खुला है, दातार खड़े हैं किंतु अब कोई याचक आ ही नहीं रहा है। मालूम होता है कि चक्रवर्ती वज्रनाभि ने आते ही शहर की दरिद्रता को कूच करा दिया है। जिनमंदिरों में जिनेन्द्र देव का पूजा महोत्सव मनाया जा रहा है।

शिशु वज्रनाभि अच्युत स्वर्ग के वैभव को छोड़कर यहाँ आये हैं, इसलिए लक्ष्मी को वियोग सहन नहीं होने से ही मानों वह यहाँ भी आकर उनके चरण कमलों में निवास करने लगी है। चौंसठ लक्षणों से लक्षित स्वर्णाभ देह सब जन-जन को हरण कर रहा है।

.....युवावस्था में चक्ररत्न पैदा हुआ है, सुनकर वज्रनाभि नरेन्द्र ने विधिवत् जिनेन्द्रदेव की पूजा करके चक्ररत्न की पूजा की, पुनः दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया और कुछ काल में छहों खंड पृथ्वी को जीतकर पूर्ण विजयश्री का वरण करके वापस नगरी में आ गये।

सम्राट चक्रवर्ती वज्रनाभि महाराज षट्खंड पृथ्वी पर एकछत्र शासन कर रहे हैं।

चक्रवर्ती का वैभव –

ऐरावत हाथी के समान चौरासी लाख हाथी हैं, वायु के समान वेगशाली रत्नों से निर्मित चौरासी लाख रथ हैं, पृथ्वी की तरह आकाश में भी गमन करने वाले अठारह करोड़ उत्तम घोड़े हैं, योद्धाओं को मर्दन करने वाले ऐसे चौरासी करोड़ पदाति (पियादे) हैं। स्वयं चक्रवर्ती का शरीर वज्रमय (वज्रवृषभनाराच संहनन वाला) है, उनका संस्थान समचतुरस्त्र है, छह खंड के सभी राजाओं में जितना कुछ बल होता है, उन सबसे अधिक बल उनके एक शरीर में है, उनके चक्ररत्न के प्रभाव से छह खंड के सभी राजा उनकी आज्ञा को सिर से धारण करते हैं, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके चरणों में नत हैं।

छ्यानवे हजार रानियाँ हैं, जिनमें से बत्तीस हजार रानियाँ आर्यखंड की हैं, बत्तीस हजार रानियाँ विद्याधरों की कन्यायें हैं और बत्तीस हजार रानियाँ म्लेच्छ खंड में जन्मे राजाओं की हैं। ये सब अप्सराओं के समान सुन्दर हैं। बत्तीस हजार नाट्यशालायें हैं, जिनमें हमेशा गीत, नृत्य, वाद्य आदि चलते रहते हैं। स्वर्गपुरी के समान बहत्तर हजार नगर हैं, नन्दनवन जैसे बगीचों से शोभायमान छ्यानवे करोड़ गाँव हैं, निन्यानवे हजार द्रोणमुख हैं, जो कि समुद्र के समीपवर्ती प्रदेश हैं, वे धन-धान्य से अतिशय समृद्ध हैं। अड़तालीस हजार पत्तन हैं, वे रत्नों की खानि होने से रत्नाकर के समान हैं। सोलह हजार खेट हैं, ये कोट, अटारी, खाई और परकोटों से शोभायमान हैं। समुद्र के बीच में होने वाले और कुभोगभूमिज मनुष्यों से भरे छप्पन अन्तरद्वीप हैं। जिनके चारों ओर खाई है, ऐसे चौदह हजार संवाह अर्थात् पर्वतों पर बसने वाले शहर हैं।

भोजनशाला में चावल पकाने के लिए एक करोड़ बड़े-बड़े हंडे हैं, जिनमें बीज बोने की नली लगी हुई है ऐसे एक लाख करोड़ हल हैं, तीन करोड़ गौशालायें हैं, जहाँ रत्नों के व्यापार चलते हैं ऐसे सात सौ कुक्षिवास हैं, अट्ठाईस हजार गहन वन हैं जो निर्जल देश और ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के विभागों से बंटे हुए हैं। अठारह हजार आर्य खंड के म्लेच्छ राजा हैं।

नव निधियाँ हैं जिनके काल, महाकाल, नैसर्प, पांडुक, पद्म, माणव, पिंगल, शंख और सर्वरत्न ये नाम हैं।

काल निधि से काव्य, कोश, अलंकार, व्याकरण आदि शास्त्र और वीणा, बांसुरी, नगाड़े आदि मिलते रहते हैं। महाकाल निधि से असि,

मसि, कृषि आदि छह कर्मों के साधन, ऐसे समस्त पदार्थ और संपदाएँ निरंतर उत्पन्न होती रहती हैं।

नैसर्प निधि शय्या, आसन, मकान आदि देती है। पांडुक निधि समस्त धान्य और छहों रसों को उत्पन्न करती है। पद्मनिधि रेशमी, सूती आदि वस्त्र प्रदान करती है। शंखनिधि सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करने वाले सुवर्ण को देती है। सर्वरत्ननिधि महानील, इन्द्रनील, पद्मराग, वैडूर्य, स्फटिक आदि अनेक प्रकार के रत्नों और मणियों को देती है।

इन नौ निधियों के सिवाय चौदह रत्न हैं जिनमें सात सजीव और सात निर्जीव हैं। ये सब रत्न पृथ्वी की रक्षा और विशाल ऐश्वर्य और उपयोग के साधन हैं। चक्र, छत्र, दंड, खड्ग, मणि, चर्म और कांकिणी ये सात निर्जीव रत्न हैं और सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, तक्ष (सिलावट) और पुरोहित ये सात सजीव रत्न हैं।

सम्राट चक्रवर्ती ने सुदर्शन नामक चक्ररत्न से छहों खंड को जीत लिया है। सूर्यप्रभ नाम का छत्र राजसभा में जगमग ज्योति फैलाता हुआ सूर्य की प्रभा को लज्जित कर देता है। दण्डरत्न से विजयार्ध पर्वत की गुफा का द्वार खोला है। सौनन्दक तलवार को देखकर बैरी जन कम्पित होकर चक्रवर्ती की शरण में आ गये हैं। मणिरत्न (चूड़ामणि) अंधकार को दूर कर देता है।

धर्मरत्न से मेघकृत जल के उपद्रव से सेना की रक्षा होती है-कांकिणी रत्न से गुफा में सूर्य-चंद्र आकार बनाकर प्रकाश फैलाया जाता है। सेनापति रत्न दिग्विजय में सभी योद्धाओं से अजेय रहता है। कामवृष्टि नामक गृहपति रत्न घर के सारे काम-काज संभाल लेता है। विजयगिरि नाम का ऐरावत सदृश उत्तम हाथी राजा का वाहन बनता है। पवनंजय नाम का घोड़ा स्थल के समान समुद्र में भी दौड़ लगाता है। सुभद्रा नाम की स्त्रीरत्न चक्रवर्ती के भोग सुख का साधन है जो कि अपने हाथ की शक्ति से वज्र को भी चूर कर सकती है। भद्रमुख नामक तक्ष रत्न स्थान-स्थान पर सुन्दर महलों का निर्माण करता है और बुद्धिसागर नाम का पुरोहित रत्न सभी निमित्तादि विद्या में प्रवीण रहता है। सभी धार्मिक कार्य उसी के अधीन रहते हैं।

चक्रवर्ती के रत्नों के साथ नवनिधि, पट्टरानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, भाजन, भोजन और सवारी ये दस प्रकार के भोगोपभोग के साधन रहते हैं।

सोलह हजार गणबद्ध जाति के व्यंतर देव हाथ में तलवार लेकर निधिरत्न और चक्रवर्ती की रक्षा करने में नियुक्त रहते हैं।

चक्रवर्ती के महल को घेरकर क्षितिसार नाम का प्रसिद्ध कोट है। रत्नों के तोरणों से सुशोभित 'सर्वतोभद्र' नामक नगर का प्रमुख फाटक है। बड़े-बड़े डेरे खड़े करने के लिए नंद्यावर्त स्थान है। जिसमें सब ऋतुओं के सुख मिलें, ऐसा 'वैजयंत' नाम का महल है। दिक्स्वस्तिका नाम की सभाभूमि है। टहलते समय हाथ में लेने के लिए मणियों से निर्मित 'सुविधि' नाम की छड़ी है। सब दिशाओं के अवलोकन के लिए सबसे ऊँचा 'गिरिकूटक' नाम का राजमहल है। 'वर्द्धमान' नाम की नृत्यशाला है, जहाँ चक्रवर्ती नृत्य का अवलोकन करते हैं। 'धर्मांत' नाम का बड़ा भारी 'धारागृह' है (जिसमें सहस्रों जलयंत्र अर्थात् फव्वारे लगे हुए हैं) जो कि गर्मी के दिनों का निवास गृह है। वर्षा ऋतु के लिए 'गृहकूटक' नाम का राजभवन है। चूना से सफेद हुआ ऐसा 'पुष्करावर्ती' नाम का चाँदी का महल है। सम्राट के भंडार का नाम 'कुबेरकांत' है जो कभी खाली नहीं होता है। 'वसुधारक' नाम का अटूट कोठार है। 'जीमूत' नाम का सुन्दर 'स्नानघर' है।

चक्रवर्ती वज्रनाभि के 'अवतंसिका' नाम की अत्यन्त प्रकाशमान रत्नों की माला है। बहुत ही मनोहर कपड़े का बना हुआ ऐसा 'देवरम्य' नाम का तंबू है। जिसके पाये रत्नमयी हैं, सिंह के आकार के हैं, ऐसी 'सिंहवाहिनी' नाम की शय्या है। 'अनन्तर' नाम का सबसे श्रेष्ठ सिंहासन है जो कि लोकोत्तर होने से अनुत्तर ऐसे अपने नाम को सार्थक कर रहा है। देवों द्वारा दिये गये 'अनुपमा' नाम के चामर बहुत ही सुंदर हैं कि जिनकी उपमा अन्य से नहीं दी जा सकती है। 'सूर्यप्रभ' नाम का सुंदर छत्र है। 'विद्युत्प्रभ' नाम के मणिकुंडल बिजली की कांति को भी जीतने वाले हैं। रत्नों की किरणों से व्याप्त 'विषमोचिका' नाम की खड़ाऊँ है जो कि चक्रवर्ती के सिवाय अन्य किसी के पैर का स्पर्श होते ही विष को छोड़ने लगती है। 'अभेद्य' नाम का कवच है जो कि महायुद्ध में शत्रुओं के तीक्ष्ण बाणों से भी टूट नहीं सकता। विजयलक्ष्मी के भार को धारण करने वाला 'अजितंजय' नाम का रथ है। 'बज्रकांड' नाम का धनुष है और 'अमोघ' नाम के सफल बाण हैं। शत्रु को नाश करने वाली 'बज्रतुंडा' नाम की प्रचंड शक्ति है। 'सिंहाटक' नाम का भाला है जो सिंह के नखों से भी अधिक तीक्ष्ण है। 'लोहवाहिनी' नाम की छुरी है जिसकी मूठ रत्नों से

निर्मित है। 'मनोवेग' नाम का कणव जाति का एक विशेष शस्त्र है। 'सौनंदक' नाम की तलवार है। 'भूतमुख' नाम का खेट जाति का हथियार है।

उस चक्रवर्ती के 'आनंदिनी' नाम की बारह भेरी हैं जो अपनी आवाज को बारह योजन तक फैलाकर बजा करती हैं। 'विजयघोष' नाम के बारह नगाड़े हैं जिनकी आवाज लोग आनंद के साथ सुना करते हैं। 'गंभीरावर्त' नाम के चौबीस शंख हैं जो कि समुद्र से उत्पन्न हुए हैं। उन सकल सम्राट् के 'वीरांगद' नाम के रत्ननिर्मित कड़े हैं जो हाथ की कलाई को सुशोभित करते है। चक्रवर्ती के 'महाकल्याण' नाम का दिव्य भोजन है तथा अत्यन्त रुचिकर-स्वादिष्ट-सुगंधित, जिसको अन्य कोई पचा नहीं सकता है, ऐसा 'अमृतगर्भ' नाम का 'खाद्य' पदार्थ है जिसका स्वाद बहुत मनोहर है, मसाले वगैरह से जिनका संस्कार किया गया है। 'अमृतकल्प' नामक 'स्वाद्य' पदार्थ है तथा रसायन के समान सुखदायी रस से भरी हुई अमृत नाम की दिव्य पीने की चीजें हैं। इस चक्रवर्ती के पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के ऐसे उत्तम-उत्तम ये फल हैं जो अन्य किसी के भोगोपभोग में नहीं आ सकते हैं और संसार में अद्वितीय हैं। वायु के झकोरे से उड़ते हुए जिनके अग्रभाग आकाशरूपी आँगन को भी बुहार कर साफ कर रहे हैं, ऐसी पताकायें उस 'वज्रनाभि' राजा के अड़तालीस करोड़ हैं।

अहो! पुण्य के बिना यह विपुल वैभव कैसे मिल सकता है? पुण्य के बिना सब दिशाओं को जीतने वाली यह जयश्री और देवताओं के द्वारा भी नमस्कार करने वाला ऐसा प्रताप कहाँ मिल सकता है?

वज्रनाभि चक्रेश्वर इतने वैभव को प्राप्त करके भी धर्म को नहीं भूले हैं, प्रत्युत् अधिक-अधिक रूप से प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की पूजन करते हैं। निर्ग्रंथ गुरुओं को, अन्य-अन्य त्यागियों को आहार आदि दान देते हैं। निरन्तर शील का पालन करते हुए समय-समय पर उपवास भी करते हैं।

शहर के बाहर बगीचा है। बिना ऋतु के आम्र के फलों से आम्र वृक्ष झुक रहे हैं। अशोक, सप्तच्छद, चंपक आदि वृक्षों में नई-नई कोपलें निकली हुई हैं। बेला, चमेली, गुलाब आदि पुष्पों की सुगन्धि से सारा उद्यान सुरभित हो रहा है। चारों तरफ की लताएँ फूलों को बरसा-बरसाकर प्रसन्नता का अनुभव कर रही हैं। और, यह क्या? सर्प, नेवला, हरिण-व्याघ्र, वन हस्ती-शेर, चीता, भेड़िया, गौ, महिष आदि वन्य जन्तुगण बड़े प्रेम से एक साथ ही

विचरण कर रहे हैं। यह देखो! गाय का बछड़ा शेरनी का दूध पी रहा है। इधर से शिकारी निकले, किंतु उनके बाण विफल जा रहे हैं और अन्य प्राणी विश्वास के साथ शिकारियों के सामने ही निर्भीक होकर खड़े हैं।

चक्रवर्ती महाराज अपने परिवार जनों से और पुरजनों से घिरे हुए उद्यान की तरफ बढ़ते ही आ रहे हैं। कुछ दूर एक पवित्र स्फटिक पाषाण की शिला पर एक महामुनि तिष्ठे हैं। चक्रवर्ती महाराज मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें बार-बार नमस्कार करते हैं, पूजन करते हैं और महामुनीन्द्र के गुणों का कीर्तन करते हुए स्तुति करते हैं।

पुनः चरणों में नत होकर निकट में बैठ जाते हैं और प्रार्थना करते हैं—

''प्रभो! हम जैसे संसारी प्राणियों के उद्धार हेतु धर्मोपदेशरूपी अमृत की वर्षा कीजिये।'' मुनिराज ने उपदेश दिया—''हे राजन्! यह चैतन्य आत्मा अनन्त शक्तिमान् होते हुए भी अचेतन पुद्गल के वश में हो रहा है।''

गुरु के उपदेश को सुनकर राजा वज्रनाभि पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त हो गये। उस समय उन्हें यह साम्राज्य-लक्ष्मी और स्त्री, पुत्र, मित्रादि, सरस पदार्थ नीरस भासने लगे। वे सोचने लगे—''मैंने चक्रीपद को प्राप्त करके इतने काल तक इन्द्रिय भोगों का अनुभव किया है किन्तु आज तक तृप्ति नहीं हुई है। इन भोगों से तृष्णा वृद्धिंगत ही होती है, न कि शांत। अतः इन क्षणिक सुखों का त्यागकर शाश्वत सुख को प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिए।'' राजाधिराज सम्राट् ने अपने सुयोग्य पुत्र को राज्यभार सौंपकर आप स्वयं दीक्षा लक्ष्मी को स्वीकार कर लिया। अतुल छह खंड की विभूति को पुराने तिनके के सदृश छोड़ दिया और निर्ग्रंथ दिगम्बर महामुनि बन गये।

शत्रु-मित्र, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, स्तुति-निंदा, कनक-काँच और महल-मशान में परम समभाव को धारण करने वाले वे वज्रनाभि मुनिराज दुर्द्धर तपश्चरण करते हुए पृथ्वी तल पर विहार कर रहे थे। किसी समय ये मुनिराज वन में आतापन योग से विराजमान थे।

(7) *मध्यम ग्रैवेयक में अहमिंद्रपद—*

उन्हें देखते ही क्रूरकर्मा भिल्लराज अत्यन्त कुपित होकर अपने तीक्ष्ण बाणों से उनके शरीर का भेदन करने लगा और कायर जनों से असहनीय ऐसा भयंकर उपसर्ग करने लगा। वे मुनिराज शरीर से पूर्णतया

निस्पृह होकर ज्ञान दर्शन स्वरूप आत्मा का ध्यान कर रहे हैं। आत्मा के स्वभाव से ही उत्पन्न सहज आत्मानुभूति से उपसर्ग के दुःखों का उन्हें अनुभव ही नहीं आ रहा है। यदि वे स्वात्म तत्त्व के ध्यान से किंचित् नीचे आते हैं तो चतुर्विध आराधना के स्मरण में अपने उपयोग को स्थिर करते हुए धर्मध्यान में एकतान हो जाते हैं। इस नश्वर शरीर से चैतन्य आत्मा का प्रयाण हो जाता है और वह मध्यम ग्रैवेयक के मध्यम विमान में श्रेष्ठ अहमिंद्र हो जाता है। वहाँ सत्ताईस सागर की आयु तक दिव्य सुखों का अनुभव करता है।

इधर कुछ दिन बाद वह भील रौद्रध्यानपूर्वक शरीर को छोड़कर मुनि हत्या के पाप से सातवें नरक में चला गया। वहाँ के कष्टों का बखान कौन कर सकता है? जो भोगता है वही जानता है या भगवान सर्वज्ञदेव जान सकते हैं। उस अन्धकूपमय नरकवास में उसने औंधे मुख जन्म लिया और जन्म लेते ही भूमि पर धड़ाम से गिरा, भूमि का स्पर्श होते ही जैसे हजारों बिच्छुओं ने एक साथ डंक मारा हो ऐसी भयंकर वेदना हुई, पुनः वह नारकी पचास योजन तक ऊपर उछल पड़ा और पुनः गिर पड़ा जैसे तपे हुए तवे पर तिलों को डालते ही वे पुटपुट करते हुए उछलने लगते हैं, वैसे ही नरक धरा में नारकी जन्म लेते ही भयंकर वेदना से उछलने लगते हैं। वह नारकी भी छिन्न-भिन्न शरीर होता हुआ अत्यन्त दुःखी और भयभीत उसी धरा पर लोट-पोट कर बिलबिलाने लगा और कहाँ जा सकता था? दशों दिशाओं को देखता हुआ चकित चित्त हो रोने लगता है–

''हाय! हाय! मैं यहाँ कहाँ आ गया? यह कौन स्थान है? मुझे यहाँ कौन लाया?'

इत्यादि सोचते ही उसे कुअवधिज्ञान प्रगट हो गया। जिससे सारी बातें जान लीं।

''अरे! अरे! मैं नरक भूमि में आ पड़ा हूँ! अब मेरे लिए यहाँ पर शरण कौन है? अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?

ऐसे विलाप करता हुआ वह पश्चात्ताप की दावानल अग्नि में जलने लगा। ''हे प्रभो! मैंने मनुष्य पर्याय पाकर भी अधम से अधम पाप किये हैं, जिससे कि इस अनन्त दुःखमयी नरक पृथ्वी को प्राप्त हुआ हूँ। मैंने मद्य, माँस आदि अपवित्र अनन्त जीवों के कलेवरस्वरूप ऐसे पदार्थों का भक्षण किया है। तमाम पशु-पक्षियों को बिना अपराध के मार-मार

गिराया है। वन में बिना कारण ही अग्नि लगाकर असंख्य जीव भस्म किये हैं।

इस प्रकार से वह नारकी अपने पूर्वकृत पापों का स्मरण कर रहा है कि इसी बीच नये नारकी को देखकर तमाम नारकी दौड़ पड़े और नेत्रों से अँगारे बरसाते हुए सभी क्रूर कर्मा नारकी उसे मारने लगते हैं।

कोई नारकी आप स्वयं भाले का रूप लेकर, कोई तलवार बनकर, कोई मुग्दर बनकर उसे मारने लगे। अनेकों प्रकार के शस्त्ररूप बन-बनकर वे उस नारकी के तिल-तिल बराबर खंड करने लगे। हाय! देखो! फिर भी शरीर के खंड-खंड होने पर भी मृत्यु नहीं है प्रत्युत् वे सब टुकड़े तत्क्षण ही पारे के समान मिलकर एक हो जाते हैं और वह बेचारा नारकी वेदना से चीखता-चिल्लाता ही रहता है। वे नारकी परस्पर में एक-दूसरे को दुःख ही दुःख देते रहते हैं। कोई कोल्हू में किसी को डालकर पेल रहे हैं, कोई चक्की में पीस रहे हैं, कोई तपे हुए तेल के कड़ाव में पैर पकड़ कर उठा कर पटक देते हैं, कोई अग्नि में झोंक देते हैं, कोई शूली पर आरोहण करा देते हैं, कोई पैर काटते हैं, कोई मर्म स्थान विदार देते हैं, कोई हड्डियों का चूर्ण-चूर्ण कर देते हैं, कोई ऊपर से खाल उतार लेते हैं और कोई करवत से चीर-चीर कर अलग-अलग दो टुकड़े बना देते हैं, कोई भी किसी का पेट फाड़ कर अन्दर की अँतड़ियाँ निकाल लेते हैं, कोई दोनों नेत्र निकाल लेते हैं, कोई खंभे से जकड़कर, बाँधकर अनेकों शस्त्रों से मारते हैं। कोई कहते हैं–

''अरे पापी! तूने मदिरा पी थी, अब पुनः पी ले। ''ऐसे कठोर वचन बोल-बोल कर पूर्व पाप की याद दिलाते हुए उसे गरम-गरम तपाया हुआ ताँबा पिला देते हैं जिससे उसका सारा शरीर गल जाता है। सभी अन्दर की आँतें बाहर निकल पड़ती हैं। कोई उसी के माँस को काट-काटकर उसे ही खिलाते हैं और कहते हैं–''अरे! तुझे तो माँस बहुत अच्छा लगता था।'' कोई तपाये हुए लोहे के खंभे से चिपका देते हैं और उसे परस्त्री के साथ रमण करने की याद दिलाते हैं।

इस प्रकार से उस नरक भूमि में एक पल को भी चैन नहीं है। यदि तीन लोक का सभी अन्न भी खा जायें तो भी भूख शांत नहीं हो सकती है किन्तु खाने को वहाँ एक कण भी नसीब नहीं होता है। सागर के समस्त जल को पीने के बाद भी प्यास बुझ नहीं सकती, फिर भी वहाँ पर एक बूँद पानी नहीं

है। वहाँ एक लाख योजन प्रमाण इतने बड़े लोहे के गोले को पिघलाकर डाल दो, किन्तु उसी क्षण वह जम जाता है। सातवें नरक में इतनी भयंकर ठण्डी है। वहाँ के अपार-दुःखों की कहानी यदि करोड़ों जिह्वा करके भी कोई तमाम समय वर्णन करता ही रहे तो वह पूरी नहीं हो सकती है। जैसे परवश वेदना ये नारकी सहन करते हैं, उसका अनन्तवाँ भाग भी यदि स्ववश होकर सहन कर लें, तो संसार समुद्र को ही पार कर जावें।

भील का जीव वहाँ पर सत्ताईस सागर प्रमाण मध्यम आयु पर्यंत इन दुःखों का अनुभव करता रहा है।

''सागर किसे कहते हैं?''

''दो हजार कोश प्रमाण एक लम्बा-चौड़ा और गहरा गड्ढा कल्पना में बनाइए। उसे सात दिन के अन्दर जन्में हुए मेड़े के बालों से भर दीजिए। ध्यान रखिये, इन बालों के इतने छोटे-छोटे खंड कर दिये जायें जिनका फिर वापस खंड ही न हो सके, ऐसे रोम-खंडों से भरे हुए उस गड्ढे की खूब ऊपर से कुटाई कर दीजिए पुनः उनमें से एक-एक-रोम को सौ-सौ बरस में निकालिए। जब वह गर्त खाली हो जाये, तब एक 'व्यवहार पल्य' होता है। इसमें जितना समय लगा है, उसे असंख्यात करोड़ वर्षों के समयों से गुणा कर दीजिए। इसमें जितने समय जावेंगे, वह 'उद्धार पल्य' कहलाता है। अनन्तर सौ वर्ष के जितने समय हैं, उतने समयों से उद्धार पल्य के रोमों को गुणित करने से जितने समय होवें, वह 'अद्धापल्य' हो जाता है। इन दश कोड़ाकोड़ी[1] 'अद्धापल्यों' का एक सागर होता है। ऐसे सत्ताईस सागर प्रमाण काल तक यह नारकी नरक के दुःखों को भोगता रहा है।

(8) *आनंदमहाराज –*

अयोध्यापति आनंद कुमार महाराज की राज्य सभा –

राज्य सभा में महामंडलीक पद को विभूषित करते हुए महाराज आनन्द कुमार रत्नखचित स्वर्ण सिंहासन पर आरूढ़ हैं। वारांगनायें चमर ढोर रही हैं। महाराज आनन्द कुमार का वैभव विशाल है। आठ हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी आज्ञा को शिरसा वहन करते हैं। दशों दिशाओं में महाराज के गुणों की उज्ज्वल कीर्ति व्याप्त हो रही है। अयोध्याधिपति

1. एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर जो संख्या आती है वह कोड़ाकोड़ी कहलाती है।

राजा वज्रबाहु और उनकी रानी प्रभाकरी माता धन्य हैं, जिन्होंने ऐसे कुल दीपक को जन्म दिया है।

स्वामिहित नाम के एक विवेकशील मंत्री ने कहा–''महाराज! इस समय ऋतुओं का राजा बसन्त आ गया है। सर्वत्र सभी जन कुछ न कुछ महोत्सव कर रहे हैं। अभी फाल्गुन सुदी अष्टमी से पूर्णिमापर्यंत आष्टान्हिक महापर्व आ रहा है। इस अवसर में नंदीश्वर व्रत किया जाता है और महामहिम पूजा का अनुष्ठान भी होता है। हे प्रभो! जिनेन्द्र देव की पूजा संपूर्ण पापों का नाश करने वाली है' पुनः पर्व के संयोग से वह पूजा अतिशय पुण्य को प्रदान करने वाली हो जाया करती है। जिन पूजा के समान इस जगत् में और कोई उत्तम कार्य न हुआ है और न हो सकता है। जिनेन्द्र देव की पूजा की भावना ही सभी दुःखों को दूर करने का एक अमोघ उपाय है।''

मंत्री के उपदेश से मंडलेश्वर राजा आनन्द कुमार ने अतुल वैभव के साथ नन्दीश्वर पूजन का उपक्रम किया। विधान कार्य में अगणित लोगों ने भाग लिया था। उस पूजा को देखने के लिए वहाँ पर विपुलमति नाम के मुनिराज पधारे। आनंद राजा ने उनकी बड़ी विनय से वंदना की तथा उनके मुखचंद्र से धर्मामृत का पान किया। अनन्तर राजा ने कहा–

''भगवन् ! मुझे कुछ संशय हो रहा है सो कृपया आप उसका निवारण कीजिए। गुरुदेव! ये जिनेन्द्र देव की प्रतिमायें तो धातु-पाषाण आदि से निर्मित हैं अतः अचेतन हैं पुनः पूजन करने वाले सचेतन को ये पुण्य फल कैसे प्रदान कर सकती हैं? प्रभो! इनमें किसी का भला-बुरा करने की शक्ति कहाँ है?''

मुनिराज ने कहा–''राजन्! आपने समयोचित प्रश्न किया है, सुनिये! यद्यपि ये जिन प्रतिमायें अचेतन हैं और जिनेन्द्र मंदिर अचेतन हैं तथापि ये भव्य जीवों के लिए पुण्य बंध के ही कारण हैं। यथार्थ में पुण्य बंध परिणामों से होता है। जिनेन्द्र भगवान रागादि दोषों से रहित, शस्त्र, वस्त्र, स्त्री, पुत्रादि से रहित हैं। उनके मुख की वीतराग सौम्य छवि परिणामों की उज्ज्वलता में कारण है। जिन मंदिर और उनकी प्रतिमाओं के दर्शन करने वालों के परिणामों में जितनी निर्मलता और प्रकर्षता होती है, वैसी अन्य कारणों से नहीं हो सकती है। जैसे कल्पवृक्ष, चिंतामणि आदि अचेतन होते हुए भी मनवांछित और मनचिंतित फल देने में समर्थ हैं, वैसे ही जिनप्रतिमायें भी संपूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ हैं।

प्रतिमारूप में वीतराग मुद्रा को देखकर जिनेन्द्र देव का स्मरण होता है जिससे अनन्तगुणा पुण्यबंध हो जाता है। देखिये! मणि, मंत्र, औषधि आदि अचेतन पदार्थ भी विष अथवा रोगादि को नष्ट करते हुए देखे जाते हैं, वैसे ही जिनबिंब का दर्शन और पूजन भी समस्त पाप को भस्मसात् करने वाला है। अधिक क्या! जो मूढ़जन जिनप्रतिमाओं का दर्शन नहीं करते हैं या उनकी निंदा करते हैं, वे स्वयमेव अनन्त संसार सागर में डूब जाते हैं। जैसे राजा की मुद्रा (फोटो-चित्र) आदि का अपमान करने पर मनुष्य राजद्रोही माना जाता है और राजा द्वारा दण्ड को प्राप्त होता है, वैसे ही जिनमुद्रा से अंकित मूर्तियाँ साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के सदृश पूज्य मानी जाती हैं, उनका अपमान करने वाला व्यक्ति धर्मद्रोही, आत्मद्रोही होता हुआ कर्म की मार से अनन्त दुःखों को प्राप्त करता है।''

इस प्रकार से जिनप्रतिमा के दर्शन-पूजन का फल बतलाते हुए मुनिराज ने राजा के सामने तीन लोक के अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन करना प्रारंभ किया, जिसमें सबसे प्रथम वे सूर्य के विमान में स्थित जिन मंदिर का वर्णन करने लगे, वे बोले-

''हे राजन! सूर्य का विमान 48/61 योजन का है। एक योजन में लगभग 4000 मील होते हैं अतः 48/61×4000=3147, 33/61 मील प्रमाण विस्तृत सूर्य का विमान होता है। यह पृथ्वी तल से 800 योजन अर्थात् 3200000 मील की ऊँचाई पर है, उसमें बारह हजार किरणें हैं जो कि अति उग्र और उष्ण हैं। यह विमान अर्ध गोलक के सदृश है अर्थात् जैसे गेंद या नारंगी को बीच से काटने पर जैसा आकार होता है, वैसा ही इन विमानों का आकार है।

सूर्य के विमान को आभियोग्य (वाहन) जाति के 16000 देव सतत खींचते रहते हैं। 4000 देव पूर्व दिशा में सिंह का आकार धारण करते हैं, 4000 देव दक्षिण में हाथी का आकार, 4000 देव पश्चिम में बैल का आकार एवं 4000 देव उत्तर में घोड़े का आकार धारण किये रहते हैं। सूर्य का विमान पृथ्वीकायिक चमकीली धातु से बना हुआ है जो कि अकृत्रिम है। इस सूर्य बिंब में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के आतप नाम कर्म का उदय होने से उसकी किरणें चमकती हैं तथा उसके मूल में उष्णता न होकर किरणों में ही उष्णता होती है। आकाश में सूर्य की 184 गलियाँ हैं। इनमें से सूर्य क्रमशः एक-एक गली में संचार करते हैं। चूँकि जम्बूद्वीप में दो

सूर्य और दो चंद्रमा होते हैं। एक मिनट में सूर्य की गति लगभग 447623 मील प्रमाण है।

सूर्य विमान में नीचे का गोल भाग तो हम आपको दिख रहा है तथा ऊपर के समतल भाग में चारों तरफ गोल तटवेदी (परकोटा) है, उसमें चारों दिशाओं में चार गोपुर—मुख्य फाटक हैं। इन विमान के बीचों-बीच में उत्तम वेदी सहित राजांगण है। उसके ठीक बीच में रत्नमय दिव्यकूट है। उस कूट पर वेदी एवं चार तोरण द्वारों से युक्त जिनमंदिर हैं। वे जिनमंदिर मोती व सुवर्ण मालाओं से रमणीय और उत्तम वज्रमय किवाड़ों से संयुक्त दिव्य चन्द्रोपकों से सुशोभित हैं । वे जिनभवन देदीप्यमान रत्नदीपकों से सहित, अष्ट महामंगल द्रव्यों से परिपूर्ण, वंदनमाला, चमर, क्षुद्र घंटिकाओं के समूह से शोभायमान हैं। उन जिनभवनों में स्थान-स्थान पर विविध प्रकार की क्रीड़ाशालाएँ बनी हुई हैं।

वे जिनभवन समुद्र के सदृश गंभीर शब्द करने वाले मर्दल, मृदंग, पटह आदि विविध प्रकार के दिव्य वादित्रों से नित्य शब्दायमान रहते हैं। उन जिनभवनों में तीन छत्र, सिंहासन, भामंडल और चामरों से युक्त 108 जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं। उन जिनेन्द्रदेव के भवन में श्रीदेवी व श्रुतदेवी यक्षी एवं सर्वाण्ह व सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ भगवान के आजू-बाजू में शोभायमान होती हैं। सभी देवगण गाढ़ भक्ति से जल, चंदन, तंदुल, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से नित्य ही उनकी पूजा करते रहते हैं।

जो भव्य जीव इन जिन प्रतिमाओं की भक्ति भाव से पूजा करते हैं, नमस्कार करते हैं, वे संसार के समस्त अभ्युदयों को भोग कर परंपरा से निर्वाण सुख को अवश्य ही प्राप्त कर लेते हैं।

इस जिन भवन के चारों ओर समचतुष्कोण, लंबे और नाना प्रकार के सुंदर-सुंदर सूर्यदेव के भवन बने हुए हैं। कितने ही भवन मरकत वर्ण के, कितने ही कुंद पुष्प के और कितने ही सुवर्ण सदृश बने हुए हैं। इन सूर्य भवनों में सिंहासन पर सूर्यदेव विराजमान होते हैं। सूर्य की मुख्य देवियाँ चार हैं—द्युतिश्रुति, प्रभंकरा, सूर्यप्रभा और अर्चिमालिनी। सूर्य की और भी बहुत सी देवियाँ हैं। इसी प्रकार से मुनिराज ने बहुत ही विस्तृत उपदेश दिया।

सूर्य विमान के जिनमंदिर की असाधारण विभूति को सुनकर, आनंद महाराज को बहुत ही श्रद्धा हो गयी। वह राजा उस समय से

प्रतिदिन आदि और अंत समय में दोनों हाथ जोड़कर तथा मुकुट झुकाकर सूर्य के विमान में स्थित जिनप्रतिमाओं की स्तुति करने लगा और अपने प्रासाद की छत पर स्थित होकर, उन सूर्य विमान में स्थित जिन प्रतिमाओं को प्रतिदिन अर्घ चढ़ाकर पूजा करने लगा। इतना ही नहीं, उसने कारीगरों के द्वारा मणि और सुवर्ण का एक सूर्य विमान भी बनवाया और उसमें कांति से चकचकायमान सुंदर जिन मंदिर बनवाया। उसमें रत्नों की जिन प्रतिमाएँ विराजमान कराईं पुनः उसने शास्त्रोक्त विधि से भक्तिपूर्वक आष्टाह्निक पूजा की। चतुर्मुख, रथावर्त, सबसे बड़ी सर्वतोभद्र और याचकों को मुँह माँगा दान देने वाली ऐसी 'कल्पवृक्ष' नाम की महापूजाएँ कीं।

इस प्रकार उन आनंद महाराज को सूर्य की पूजा करते देख उनकी प्रामाणिकता से देखा-देखी अन्य लोग भी स्वयं भक्तिपूर्वक सूर्य मंडल की स्तुति करने लगे। आचार्य कहते हैं कि 'इस लोक में उसी समय से सूर्य की उपासना चल पड़ी है।[1]

इस तरह आनंद नरेश बहुत काल तक धर्माराधन, जिनपूजन, दान आदि करते हुए सुख से प्रजा का पालन करते रहे हैं।

आनंद नरेश देवेन्द्र के समान अपनी सभा में स्थित हैं। अकस्मात् दर्पण में मुख अवलोकन करते ही उन्हें अपने मस्तक पर एक धवल केश दिखाई दिया। राजा का मन कंपायमान हो उठा। तत्काल वे भोगों से और विशाल राज्य वैभव से उदास हो गये। उनका मोहकर्म एकदम मंद हो गया। वे सोचने लगे, अहो! बाल्य अवस्था व्यतीत हो गई, तरुणाई आई और अब वह भी विदा माँग रही है, जरादेवी (बुढ़ापा) ने अब मेरे इस शरीररूपी घर में प्रवेश कर लिया है। इस प्रकार से मरण समय नजदीक आ रहा है, वह देवी इस बात का सूचना पत्र लेकर ही आई है।

बालक देह कोंपल है, यौवन में वह पत्ते रूप हो जाता है, वृद्धावस्था पके हुए पीले पत्ते के सदृश है जो कि कालरूपी हवा के झकोरे से गिर जाता है। कोई जीव गर्भ में ही मर जाते हैं, कोई जन्मते ही शरीर छोड़ देते हैं, कोई बाल्यदशा धारण कर चले जाते हैं। कोई यौवन में नरकाया से वंचित हो जाते हैं। इस प्रकार से मरण के समय का कुछ भी नियत काल नहीं है परन्तु यह बात अवश्य ही निश्चित है कि जो जन्म लेता है वह मरता अवश्य है। पर्वत से पड़ती हुई नदी के समान क्षण-क्षण में आयु

1. तदाप्रभृति लोकेस्मिन् बभूवाकेपिसेवनम् । (उत्तर पु. पृ. 73)

निकलती चली जा रही है। राग से अंधा हुआ मैं भोगों में मग्न हो रहा हूँ। हाय! हाय! बड़े दुःख की बात है कि मैंने इतना अमूल्य जीवन घर में व्यतीत कर दिया है। खैर! हुआ सो हुआ, गई सो गई। अभी हमें शीघ्र ही आत्महित के कार्य में लग जाना चाहिए। ऐसा सोचते ही राजा ने मंत्रियों से अपना अभिप्राय प्रगट कर दिया। सुयोग्य बड़े पुत्र को राज्य-भार सौंपकर आप सागरदत्त मुनिराज के समीप पहुँचे और उनसे प्रार्थना की–

''हे गुरुदेव! मैं अब इस संसार समुद्र से पार होने के लिए चारित्र रूपी जहाज पर बैठना चाहता हूँ, सो आप मेरे कर्णधार होइये और मुझे इस अपार संसार से शीघ्र पार पहुँचाइये।''

उस प्रार्थना को सुनकर तरणतारण महामुनि ने अनेकों राजाओं के साथ उन महामंडलेश्वर आनंद नरेश को दैगम्बरी दीक्षा दे दी। जिसमें अट्ठाईस मूलगुणों का पालन होता है।

5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रियनिरोध, 6 आवश्यक और 7 शेष गुण ये 28 मूलगुण होते हैं।

संपूर्ण त्रस-स्थावर जीवों की विराधना का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है। असत्य और अप्रशस्त वचन बोलने का सर्वथा त्याग करना सत्य महाव्रत है। किसी की वस्तु बिना दी हुई न ग्रहण करना अचौर्य महाव्रत है। स्त्रीमात्र का त्याग कर देना ब्रह्मचर्य महाव्रत है और वस्त्र मात्र भी परिग्रह का त्याग कर देना परिग्रह त्याग महाव्रत है। चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है। हित, मित, प्रिय वचन बोलना भाषा समिति, छ्यालीस दोष टालकर शुद्ध आहार लेना एषणासमिति, देख-शोधकर पुस्तक आदि धरना, उठाना आदाननिक्षेपण समिति और प्रासुक भूमि में मल-मूत्रादि विसर्जन करना उत्सर्ग समिति है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना पंचेन्द्रिय निरोध है।

साम्यभावपूर्वक त्रिकाल सामायिक करना सामायिक आवश्यक है चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तुति आवश्यक है, एक तीर्थंकर आदि की स्तुति करना वंदना है, लगे हुए दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण है, आगामी दोषों का त्याग करना या आहार आदि का त्याग करना प्रत्याख्यान है और योग मुद्रा आदि से स्थिरचित्त होकर कायोत्सर्ग-ध्यानादि करना कायोत्सर्ग आवश्यक है। ये षट् आवश्यक हैं।

वस्त्रमात्र का त्याग कर दिगम्बर रहना, केशलोंच करना, स्नान नहीं

करना, दंतधावन नहीं करना, भूमिशयन करना, एक बार भोजन करना और खड़े होकर आहार लेना ये सात शेष गुण हैं। ऐसे ये अट्ठाईस मूलगुण हैं।

आनंद मुनिराज महान् आनंद और उत्साह के साथ इन मूलगुणों का पालन करने लगे। बारह प्रकार के तपश्चरण में भी तत्पर थे और बाईस परीषहों को जीतते हुए उत्तरगुणों को भी धारण कर रहे थे। शुभ लेश्या के धारक उन मुनिराज ने चारों आराधनाओं की आराधना की थी। गुरु के पादमूल में बैठकर उन्होंने ग्यारह अंग तक श्रुत का अध्ययन किया। अनंतर तीर्थंकर नामकर्म के लिए कारणभूत ऐसी सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन किया।

सोलहकारण भावना

1. दर्शन विशुद्धि – पच्चीस मल दोष रहित विशुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करना।
2. विनय सम्पन्नता – देव, शास्त्र, गुरु तथा रत्नत्रय का विनय करना।
3. शीलव्रतों में अनतिचार – व्रतों और शीलों में अतिचार नहीं लगाना।
4. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग – सदा ज्ञान के अभ्यास में लगे रहना।
5. संवेग – धर्म और धर्म के फल में अनुराग होना।
6. शक्तितस्तप – अपनी शक्ति को न छिपाकर अंतरंग-बहिरंग तप करना।
7. शक्तितस्त्याग – अपनी शक्ति के अनुसार आहार, औषधि, अभय और ज्ञान दान देना।
8. साधु समाधि – साधुओं का उपसर्ग आदि दूर करना या समाधि सहित वीर मरण करना।
9. वैय्यावृत्यकरण – व्रती, त्यागी, साधर्मी की सेवा करना, वैय्यावृत्ति करना।
10. अर्हद्भक्ति – अरहंत भगवान की भक्ति करना।
11. आचार्य भक्ति – आचार्य की भक्ति करना।
12. बहुश्रुत भक्ति – उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना।
13. प्रवचन भक्ति – जिनवाणी की भक्ति करना।
14. आवश्यक अपरिहाणि – छह आवश्यक क्रियाओं का सावधानी से पालन करना।
15. मार्ग प्रभावना – जैनधर्म का प्रभाव फैलाना।
16. प्रवचन वात्सल्य – साधर्मी जनों में अगाध प्रेम करना।

आनंद मुनिराज ने इन भावनाओं को भाते हुए सातिशय तीर्थंकर

प्रकृति का बँध कर लिया।

तपश्चरण के बल से मुनिराज को अनेकों प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न हो गईं। वे योगिराज जिस वन में ध्यान लगाते हैं, उस वन में रहने वाले और आने वाले जीवों की सभी विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं, सूखे सरोवरों के तट पर विचरण करते हैं, सभी ऋतु के फल-फूल एक साथ आ जाते हैं, जात विरोधी सिंह-हरिण, नकुल, मयूर, सर्पादि सभी जीव बड़े प्रेम से मिलकर विचरण करते हैं। ये महामुनि परम समतारस के आस्वादन में तत्पर हैं और अपनी ही शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न हुए वीतराग सुखामृत का पान करके तृप्त हो रहे हैं।

एक समय वे मुनिराज उसी क्षण में प्रायोपगमन संन्यास लेकर प्रतिमायोग से ध्यान में लीन हो गये। उसी समय भयंकर गर्जना करता हुआ एक सिंह वहाँ आता है जो कि कमठचर पापी भील का जीव नरकों के भयंकर दुःखों को भोग कर आया है। वह इन मुनिराज को देखता है। संस्कारवश क्रोध कषाय भड़क उठती है। वह शीघ्र ही दहाड़ मारकर मुनिराज पर धावा बोल देता है और उनके कंठ को पकड़ लेता है। तीक्ष्ण नखों से शरीर का विदारण करता है और कठोर पैनी डाढ़ों से सारे बदन को छिन्न-भिन्न कर देता है। मुख में मांस पिंड का ग्रास भर-भर कर खाने लगता है।

इस पशुकृत उपसर्ग को वे साधुराज परम शांत भाव से सहन करते हैं, किंचित् मात्र भी उनके मन में शरीर के प्रति राग और शत्रु सिंह के प्रति द्वेष नहीं है। परम धीर-वीर तपोधन दुःसह वेदना को ना कुछ गिनते हुए अपने ज्ञानपुंज स्वरूप, अनंत गुणों के निधान आत्मा के चिंतन में अपना उपयोग लगा लेते हैं। अहा, हा! देखो तो सही, इस क्षमा भाव की महिमा को! जिसके प्रभाव से वे मुनिराज इस नश्वर भौतिक मल-मूत्र के पिंडस्वरूप देह को छोड़कर दिव्य वैक्रियक देह धारण कर लेते हैं। आनत नाम के तेरहवें स्वर्ग के प्राणत नामक विमान में इन्द्र हो जाते हैं।

(9) *आनत स्वर्ग में इन्द्रपद –*

अहो! समभाव की कितनी महिमा है! जो कि इस जीव को स्वयं उन्नति के शिखर पर पहुँचा देती है। वहाँ के वैभव को देखकर वे आनंदचर इन्द्रराज धर्म और धर्म के फल में अतिशय प्रीति को प्राप्त होते हैं। जहाँ

की पृथ्वी चंद्रकांत, मूँगा, मणि आदि से निर्मित है, जहाँ रात्रि-दिन का भेद नहीं है। रत्नों के उद्योत की जगमगाहट से सूर्य का तेज भी लज्जित हो जाता है। मणियों के कंगूरे जिन पर लगे हुए हैं, ऐसे कांचन के परकोटे से वेष्टित स्वर्गपुरी का धाम है। गहरी खाई जल से भरी हुई है फिर भी उसमें जलचर जीव नक्र, चक्र, मगर आदि कुछ भी नहीं हैं। ऊँचे-ऊँचे दरवाजे हैं। ऊँचे-ऊँचे तोरणों से मनोहर रत्नों के भवन हैं। वहाँ पर चंपक, मंदार, पारिजात, सप्तच्छद आदि नाना तरह के फूलों से भरे हुए कल्पवृक्ष मंद-मंद पवन से अपनी शाखाओं को हिला रहे हैं। छहों ऋतु की शोभा देव-देवियों के मन को बरबस ही हरण किया करती है। वहाँ पर ईति, भीति, चोरी, उपद्रव आदि संकट रंचमात्र भी नहीं हैं। ऐसी स्वर्गपुरी में वे इन्द्रदेव उपपाद शय्या से नवयौवन शरीर को प्राप्त करके, उठकर बैठ जाते हैं देव-देवियों के जयकारों से दिशायें मुखरित हो उठती हैं।

अपने दिव्य अवधि चक्षु के द्वारा सारी बातों को स्पष्ट जानकर वे इन्द्र मंगल स्नान आदि विधि करके सबसे प्रथम जिनेंद्रदेव की पूजा करते हैं। अनन्तर अपनी विभूति का, देवांगनाओं का अवलोकन करते हैं। उनके शरीर में मल-मूत्र, पसीना आदि नहीं है, न उनकी पलकें लगती हैं, न नख और केश ही बढ़ते हैं। बुढ़ापा, अकालमृत्यु और व्याधि वहाँ पर नहीं हैं। इन्द्रराज अपने परिवार देवों के साथ कभी नंदीश्वरद्वीप में पूजा रचाते हैं तो कभी सुमेरु पर्वतों की वंदना के लिए चले जाते हैं, कभी सीमंधर आदि तीर्थंकर के समवसरण में दिव्यध्वनि के द्वारा दिव्य धर्मामृत का पान करते हैं तो कभी ऋषि, मुनियों के दर्शन का लाभ लेते हैं। कभी नंदन वन में क्रीड़ा करते हैं तो कभी सभा में बैठकर देव-देवांगनाओं को संतुष्ट करते हुए मनोविनोद करते हैं। कभी-कभी उन्हें धर्म का उपदेश देते हुए कृतार्थ हो जाते हैं। भावी तीर्थंकर वे देवेन्द्र इस अतुल वैभव को भोगते हुए भी उसमें आसक्त नहीं हो रहे हैं।

बीस सागर की उनकी आयु है। बीस हजार वर्ष बाद मानसिक अमृतमयी आहार है और बीस पक्ष (10 माह) बीत जाने पर वे उच्छ्वास लेते हैं। साढ़े तीन हाथ का उनका दिव्य शरीर है। इस प्रकार वे इन्द्रराज अपनी आयु प्रमाण दिव्य सुखों का अनुभव कर रहे हैं।

(10) *भगवान पार्श्वनाथ –*

वाराणसी नगरी में महाराज अश्वसेन अपने सिंहासन पर स्थित हैं- वंदीगण महाराज के अगणित गुणों का बखान कर रहे हैं तथा समय-समय पर मंत्रीगण राज्य की सुव्यवस्था और प्रजा के सुख-वैभव का वर्णन करते हुए महाराज को प्रसन्न कर रहे हैं। इसी बीच सौधर्म स्वर्ग में अपनी सुधर्मा सभा में बैठे हुए सौधर्म इन्द्र ने अपने दिव्य अवधि लोचन से कुछ देखकर पुनः धनपति (कुबेर) को बुलाकर कहा–

''धनद! आनंद नरेश का जीव, जो कि यहाँ आनत स्वर्ग में इन्द्र पद के सुखों का उपभोग कर रहा है, उसकी आयु छह मास की ही शेष रही है, वे तेईसवें अवतार हैं। इसलिए अब शीघ्र ही तुम बनारस नगरी में जाओ और त्रिभुवन-तिलक के जनक बनने का अतिशय सौभाग्य प्राप्त करने वाले अश्वसेन महाराज के महल में अविरल रत्नों की वर्षा करना शुरू कर दो।''

'जो आज्ञा महाराज!' कहकर कुबेर हाथ जोड़कर इन्द्रराज को सिर से प्रणाम कर उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर, वहाँ से सीधे बनारस नगरी में पहुँचता है और माता वामा देवी के आँगन में अनर्घ्य–अमूल्य रत्नों की वर्षा करना प्रारंभ कर देता है। उस समय ऐसा मालूम होता है कि मानों स्वर्गलोक की लक्ष्मी ही जिन माता की सेवा के लिए उतरी हो। प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ प्रमाण रत्नों की मोटी धारा बरसती है, उसके साथ सुरभित कल्पवृक्ष के सुमन बरसते हैं, सुगन्धित गंधोदक बरसता है, देवों के दुंदुभि बाजे महासागर के समान गंभीर शब्द करते हुए जनता को आह्लादित करते हैं और देवों के द्वारा किये गये 'जय-जयकार' शब्द महापुण्य की महिमा को प्रगट करते हैं अर्थात् उस समय देवगण इन्द्र की आज्ञा से इन पंचाश्चर्यों को करते हैं।

कुछ दिन बाद एक दिन की शुभ रात्रि में महारानी वामा देवी माणिक्य जड़ित रत्न पलंग पर सोई हुई हैं। मणिमय दीपक अपनी आभा बिखेर रहा है। ऐसा लगता है मानो वह महारानी के तेज को प्राप्त करने की उत्कंठा ही दिखला रहा हो, किन्तु अचेतन रत्न के तेज में जिन-जननी के उस अलौकिक तेज का एक अंश भी नहीं आ सकता था। पिछली रात्रि में माता ने जिन जननी के पद भार को धारण करते हुए ही

उत्तम-उत्तम सोलह स्वप्न देखे। ऐरावत हाथी, शुभ्र बैल, सिंह, लक्ष्मी देवी, दो फूलमाला, उदित होता हुआ सूर्य, तारावलि से वेष्ठित पूर्ण चंद्रमा, जल में तैरती हुई मछलियों का युग्म, कमल से ढँके पूर्ण स्वर्ण कलश, सरोवर, समुद्र, सिंहासन, देवविमान, धरणेन्द्र विमान, रत्नों की राशि और निर्धूम अग्नि ये सोलह स्वप्न थे।

पुनः सुखपूर्वक निद्रा को पूर्ण कर माता मांगलिक बाजों की ध्वनि के साथ जागृत होती हैं और अपनी प्राभातिक क्रिया से निवृत्त होकर राजसिंहासन पर आसीन अपने पतिदेव के पास पहुँचकर, नमस्कार करके उनके द्वारा उचित आदर को प्राप्त करके, अर्धासन पर बैठ जाती हैं और सामने देखे हुए स्वप्नों को निवेदित करके उनके फल की जिज्ञासा में प्रत्युत्तर की अपेक्षा करती हैं। उसी समय महाराज अश्वसेन अपने अवधिज्ञान के बल से चिंतन कर एक-एक स्वप्न के फल को पृथक्-पृथक् बतलाते हुए कहते हैं–

''देवी! आपके गर्भ में त्रैलोक्यपति तीर्थंकर का जीव अवतरित हो चुका है। आप जगत्पति पुत्ररत्न को प्राप्त करेंगी, जिसके पुण्य फल के निमित्त से ही तो चरुक पर्वत निवासिनी तथा कुलाचलवासिनी देवियाँ आकर आपकी सेवा कर रही हैं।

वामादेवी अपने पतिदेव के मुखचन्द्र के वचनामृत से परम संतोष और हर्ष को प्राप्त होती हुईं अपनी स्त्रीपर्याय को सार्थक समझती हैं। इधर तीर्थंकर के पुण्य के प्रभाव से स्वयं ही देवों के यहाँ आसनकंप आदि के द्वारा सूचना मिल जाने से सौधर्म इन्द्र असंख्य देव-परिवारों के साथ बनारस नगरी में आकर जिनराज के माता-पिता का दिव्य अभिषेक आदि करके गर्भकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। जहाँ पर साक्षात् सौधर्म इन्द्र ही उत्सव को सम्पन्न करने वाला है, वहाँ के महोत्सव का वर्णन कौन कर सकता है? यह दिन वैशाख वदी द्वितीया का था जो कि गर्भकल्याणक के मंगल से युगानुयुग तक मंगलमय ही रहेगा।

राजमहल में श्री आदि देवियाँ नानाप्रकार से माता-पिता की सेवा करती हुई, उनके मन को आनन्दित किया करती हैं। जैसे-जैसे गर्भ में बालक की वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे ही माता की बुद्धि अतिशयपने को प्राप्त होती चली जाती है। देवियाँ नाना प्रकार के प्रश्नों को करके वामादेवी के मुख से उनका चमत्कारिक उत्तर प्राप्त करके, अपने आप को कृतार्थ कर रही हैं। देखते-देखते नव महीने का समय भी व्यतीत हो

गया। जैसे सीप में मोती रहता है, वैसे ही भगवान तीर्थंकर माता के गर्भ में तिष्ठ रहे हैं, न स्वयं मल से लिप्त हैं, न क्लेश को प्राप्त होते हैं और न उनके निमित्त से माता को ही रंचमात्र भी कष्ट का आभास होता है। यह एक तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य की ही महानता है।

पौष बदी एकादशी की उत्तम तिथि के दिन सर्वश्रेष्ठ बेला में पूरब दिशा के समान वामादेवी ने त्रिभुवन कमल को विकसित करने वाले अद्भुत सूर्यस्वरूप पुत्र को जन्म दिया। पिता अश्वसेनरूपी उदयाचल से उदित होता हुआ बालसूर्य तीन ज्ञानरूपी किरणों के प्रकाश से देदीप्यमान हो रहा था।

उसी क्षण सहसा स्वर्ग में बिना बजाये ही घण्टे बजने लगे, ज्योतिषवासी देवों के यहाँ स्वयं ही सिंहनाद होने लगा, भवनवासियों के भवनों में स्वयं ही शंख ध्वनि हो उठी और व्यंतरवासी देवों के यहाँ भेरी बजने लगी। ये बाजे भगवान के प्रखर पुण्य से प्रेरित हुए स्वयं ही वाचालित हो उठे थे। इन्द्रों के आसन अपने आप कंपायमान हो उठे और उनके मस्तक के मुकुट स्वयं ही झुक गये। उस समय सुर कल्पवृक्षों से भी न रहा गया और वे भगवान की भक्ति में विभोर हो विविध प्रकार के पुष्पों की वर्षा करने लगे। सौधर्म इन्द्र सभी अतिशय विषयों से जिन जन्म की सूचना को पाकर, आसन छोड़कर सात कदम आगे बढ़कर पुनः-पुनः जिन बालक को नमस्कार करता हुआ असीम पुण्य संचित कर लेता है। अनन्तर ऐरावत हाथी पर चढ़कर सम्पूर्ण इन्द्र-प्रतीन्द्रों सहित अपनी शची देवी और असंख्य सुर परिवारों के साथ बनारस नगरी में आता है।

इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी प्रसूति गृह में जाकर जिन बालक का दर्शन कर आनन्द को प्राप्त होती हुई, बालक को गोद में उठा लेती है। उस समय उसे इतना हर्ष होता है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वास्तव में यही कारण है कि वह शची देवी अपनी स्त्री पर्याय को छेदकर पुनः पुरुष जन्म लेकर मोक्ष चली जाती है अर्थात् इन्द्राणी एक भवावतारी ही होती है। एक इन्द्र के जीवन में उनकी चालीस नील प्रमाण (400000000000000) शची देवियाँ मोक्ष चली जाती हैं क्योंकि इन्द्र की आयु सागरोपम से है और इन्द्राणियों की आयु पल्योपम से है।

वह शची देवी जिन बालक को लेकर इन्द्र के कर-कमलों में सौंप देती है। इन्द्र तत्क्षण ही ऐरावत हाथी पर बैठकर जिन बालक को गोद में

लिए हुए सपरिवार सुमेरु पर्वत पर पहुँच जाते हैं और वहाँ तीर्थंकर बालक का जन्माभिषेक उत्सव करते हैं पुनः बालक को वस्त्राभूषण से अलंकृत कर ''पार्श्वनाथ'' ऐसा नामकरण करके वापस बनारस नगरी में आकर उस बालक को माता-पिता को सौंपकर पुनः वहाँ पर जन्म कल्याणक महोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

इन्द्र तीर्थंकर शिशु के अँगूठे में अमृत को स्थापित कर देता है। उसी अँगूठे को चूसकर जिन बालक वृद्धि को प्राप्त होते हैं किन्तु वे माता के स्तन का पान नहीं करते हैं। इंद्र की आज्ञा से प्रभु के साथ उन्हीं के अनुरूप रूप लेकर देवगण क्रीड़ा करते रहते हैं। अहो! उन देवों का भी महान् सौभाग्य है कि जो जिन बालक के साथ बालक रूप में क्रीड़ा करते हुए मनोरंजन करते हैं। प्रभु के जन्म से ही दस अतिशय प्रगट रहते हैं। उनके नाम–

1. अतिशय सुन्दर रूप, जो कि तीन लोक के समस्त जीवों से भी उपमातीत है। इन्द्र भी जिस रूप को देखकर तृप्त न होते हुए एक हजार नेत्र बना लेता है फिर भी अतृप्त ही बना रहता है। सच है कि जिनके माता-पिता के शरीर में भी मल-मूत्र नहीं है, उनके सुन्दर रूप का क्या कहना? कहा भी है–

तित्थयरा तप्पियरा, हलहर चक्काइं वासुदेवाइं।
पडिवासु भोगभूमिय, आहारो णत्थि णीहारो।।

तीर्थंकर, उनके माता-पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और भोगभूमिया जीव इनके आहार तो है किन्तु नीहार नहीं है।

अतः प्रभु का रूप अतीव सुन्दर है। 2. उनके शरीर में सुगंध आती है 3. शरीर में पसीना नहीं होता है 4. मल-मूत्र नहीं रहता है 5. उनकी वाणी प्रिय और हितरूप होती है 6. शरीर में रुधिर दूध के समान श्वेत होता है 7. शरीर में अतुल्य बल होता है 8. शरीर में उत्तम-उत्तम एक हजार आठ लक्षण होते हैं 9. उनका संस्थान समचतुरस्र रहता है और 10. उनका संहनन वज्रवृषभनाराच नाम का होता है।

क्रम-क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हुए तीर्थंकर पार्श्वकुमार अद्भुत कल्पवृक्ष की उपमा धारण करते हैं। जब प्रभु सोलह वर्ष की अवस्था में प्रवेश कर चुके थे, एक बार सिंहासन पर विराजमान थे, अवसर पाकर महाराज अश्वसेन ने अपने कर्तव्य के नाते भगवान पार्श्वनाथ से विवाह करने का प्रस्ताव रखा किन्तु तीर्थंकर कुमार ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार

कर दिया और वे बाल-ब्रह्मचारी ही रहे।

एक समय श्री पार्श्वनाथ बहुत से राजपुत्रों के साथ (राजपुत्र के वेश में देवों के साथ) हाथी पर सवार होकर बनारस नगरी के उद्यानों में विचरण कर रहे थे। वहाँ पर प्रभु देखते हैं कि एक तापसी साधु पंचाग्नि तप कर रहे थे। ये तापसी प्रभुपार्श्व के नाना थे अर्थात् माता वामा देवी के पिता थे।

पार्श्वनाथ वहाँ पर खड़े हो गए, बिना नमस्कार किए हुए स्तब्ध प्रभु को देखकर वह तापसी सोचने लगा–

''अहो! मैं इस बालक का नाना हूँ फिर भी यह मेरी विनय नहीं कर रहा है।'' ऐसा सोचते-सोचते वह अतीव क्रोध में आकर, हाथ में कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी चीरने लगा।

उसके हाथ में कुल्हाड़ी लेते ही दया के रत्नाकर श्री प्रभु वचनामृत वर्षा को करते हुए हित, मित और प्रिय वचन बोले–

''हे तापसी! यह काठ मत चीरो, इसमें नाग युगल बैठे हुए हैं।''

यह सुन तापसी कहता है–

''अरे! क्या तू ही नारायण, महादेव या ब्रह्मा का अवतार है जो कि सम्पूर्ण चराचर का ज्ञाता बन रहा है? तू कैसे कह रहा है कि इस लकड़ी में सर्प युगल है?'' ऐसा कहते-कहते ही उसने कुल्हाड़ी से लकड़ी के दो टुकड़े कर दिये और तत्क्षण ही उस नाग युगल के दो टुकड़े हो गये। उस समय तीर्थंकर प्रभु ने पुनः कहा–

''हे तापसी! तुम व्यर्थ ही गर्व कर रहे हो, देखो! तुम ज्ञान के बिना अपने तन को कष्ट दे रहे हो किन्तु सोचो तो सही, तुम्हारे मन में किंचित् दया के बिना धर्म भी नहीं हो सकता है।'' उस समय वह पुनः बोलता है–

''अरे कुमार! मैं तेरी माता का जनक हूँ तथा इस समय तपस्वी हूँ, फिर भी तूने मद के वश में होकर मेरा विनय नहीं किया और उल्टे तू मेरे तपश्चरण की निन्दा कर रहा है, क्यों? मेरा तप अज्ञान तप क्यों है? मैं पंचाग्नितप तप रहा हूँ, कभी एक पैर से तो कभी ऊर्ध्व भुजा करके, ध्यान करता हूँ, भूख-प्यास की बाधा सहन करते हुए सूखे पत्ते से पारणा करता हूँ।

भगवान बोलते हैं–

''तपस्विन्! जिसमें छह काय के जीवों की हिंसा होती है, वह तप कुतप ही है। सम्यग्ज्ञान के बिना कायक्लेश उत्तम फल को नहीं दे सकता

है किन्तु जो तप जैनधर्म के अनुसार है, वही निश्चित रूप से वाँछित फल को देने वाला है। मैंने तुम्हें हितकर वचन कहे हैं, तुम इन पर विचार करो और जो उचित प्रतीत होवे उसे ही ग्रहण करो, व्यर्थ ही अपने मन को मलिन मत करो।''

इस प्रकार भगवान के उपदेश को सुनते हुए वे नाग युगल शरीर का परित्याग कर धरणेन्द्र और पद्मावती हो गये। अहो! उन सर्प युगल के धन्य भाग्य थे जिससे उन्हें अन्त समय साक्षात् तीर्थंकर प्रभु के दर्शन हुए और उनकी दिव्य वाणी को पान करने का अवसर मिला।

यह तापसी कौन था?कमठचर जीव था। वह आनंद मुनिराज की हत्या के पाप से पाँचवें नरक में जाकर सत्रह सागर की आयु तक असीम दुःखों को भोग कर वहाँ से निकला और बहुत काल तक अर्थात् तीन सागर तक पशु योनि में त्रस-स्थावर पर्यायों को धारण करते हुए पुनः कुछ कर्म भार के हल्के हो जाने पर महीपालपुर में राजा महीपाल हुआ जिसकी पुत्री वामादेवी थीं। कुछ समय के बाद पट्टरानी के मरण के अनंतर वियोगजन्य दुःख से दुःखी होते हुए तापसी वेष धारण कर लिया था। यह तापसी इस उपर्युक्त घटना के अनंतर कुछ दिन बाद मरण करके कुतप के प्रभाव से शंबर नाम का ज्योतिषी देव हो गया। सच ही है, अज्ञानतप भी जब देवगति को प्राप्त करा देता है तो सम्यग्ज्ञान सहित तप कौन-कौन से उत्तम फलों को नहीं देवेगा? अर्थात् सम्यक्तप मोक्ष तक भी प्राप्त करा देता है।

पुण्य के समुद्रस्वरूप भगवान पार्श्वनाथ के लिए भोजन, वस्त्र आदि वस्तुएँ इन्द्र अपने स्वर्ग से ले जाकर प्रदान करता है। तीर्थंकर प्रभु गृहस्थावस्था में मर्त्यलोक का अन्न या वस्त्र नहीं ग्रहण करते हैं क्योंकि जब स्वयं इन्द्र ही प्रभु का किंकर है तो फिर उन्हें अन्य के द्वारा किसी वस्तु के ग्रहण करने की आवश्यकता का प्रसंग ही क्यों आयेगा?

प्रभु तीस वर्ष की अवस्था में प्रवेश करते हुए किसी समय सुख पूर्वक बैठे हुए हैं, उसी समय अयोध्या नरेश जयसेन महाराज का दूत आता है और नाना प्रकार की वस्तुएँ भेंट में रखकर नमस्कार करता है। भगवान उस दूत से कुछ क्षण बाद अयोध्या के वैभव को पूछते हैं, तब वह कुशल दूत भगवान ऋषभदेव के अवतार का वर्णन करते हुए सविस्तार अयोध्या की संपत्ति का वर्णन कर रहा था।

इसी बीच में प्रभु पार्श्वनाथ सहसा विरक्तमना होकर चिंतवन करने लगे—''अहो! इन तीर्थंकरों ने उत्तम-उत्तम भोगों को परित्याग करके

आत्मसिद्धि प्राप्त की है, अब मेरा भी आत्मसाधना का समय हो चुका है। जब इन्द्रों के वैभव से इस जीव की तृप्ति नहीं हो सकती है तो किंचित् मात्र मनुष्य भव के सुखों से क्या तृप्ति हो सकती है?

जब सागर के जल से तृष्णा नहीं बुझ सकती है तो क्या घास के ऊपर पड़ी हुई ओस बिंदु से तृप्ति हो सकती है? असंभव है।''

उस समय जिनराज बारह भावनाओं का चिंतन कर ही रहे थे कि तत्क्षण ही लौकांतिक देव आकर, पुष्पांजलि चढ़ाकर प्रभु के चरणों की पूजा करके प्रभु के गुणों का कीर्तन करते हैं—

''हे देवाधिदेव! आप धन्य हैं, आपकी निर्मल विचारसरणि धन्य है! हे दयानिधे! यह समय भी धन्य है जो कि आपने मोहसेना को जीतने के लिए तैयारी की है। नाथ! आज शिवकांता अपने सौभाग्य की सराहना कर रही है और उसी की प्रतीक्षा में वह आज तपस्या सखी को भेज कर आपको अपनी ओर शीघ्र ही आकर्षित करना चाह रही है। जगत् के जीवों का आज महान् पुण्य अवसर आया हुआ है जो कि आपने उनके उद्धार के लिए कदम उठाया है।'' इत्यादि रूप से स्तुति करते हुए वे लौकांतिक देव अपने-अपने स्थान पर चले गये।

उसी समय आसन कंपित होने से सौधर्म इंद्र स्वयं प्रभु की सेवा में उपस्थित हो गया। असंख्य देव-देवियों ने बनारस नगरी को स्वर्ग से भी अधिक रमणीक बना दिया। जय-जयकार की ध्वनि से पृथ्वी और आकाश पूर्णतया व्याप्त हो गया। इंद्र ने प्रभु का अभिषेक करके उन्हें दिव्य वस्त्र, आभूषण पहनाकर 'विमला' नाम की रत्नपालकी में विराजमान किया। उस समय प्रभु साक्षात् मुक्तिवधू को वरण करने के लिए वर ही प्रतीत हो रहे थे। पहले उस पालकी को भूमिगोचरी राजाओं ने उठाया और सात पैंड तक ले चले पुनः विद्याधर राजागण सात पैंड तक लेकर चले। अनंतर इंद्रों ने श्री प्रभु की पालकी को अपने कंधों पर धारण किया और निमिषमात्र में वे आकाश मार्ग से चलते हुए नगर का उल्लंघन कर ''अश्व'' नाम के वन में पहुँच गये। वहाँ पर वटवृक्ष के नीचे रत्नमयी शिला पर शची देवी ने रत्नों के चूर्ण से स्वस्तिक बनाया हुआ था।

प्रभु पालकी से उतरते हैं, कोलाहल शांत हो जाता है। जीवन-मरण, शत्रु-मित्र आदि में समभाव को रखने वाले तीर्थंकर कुमार इंद्र की प्रार्थना से मंगल स्वस्तिकासन पर उत्तर मुख कर स्थित हो जाते हैं और सिद्धों की वंदना करके, वस्त्र-आभूषण का परित्याग कर केशों का पंचमुष्टि

लोंच करके, परम दिगम्बर जिनमुद्रा को धारण कर भगवान यथाजातरूप हो जाते हैं। वह पौष बदी एकादशी तिथि मंगलमयी हो जाती है। उस समय प्रभु के साथ अन्य तीन सौ राजा भी दीक्षित हो जाते हैं। इंद्रगण प्रभु के इंद्रनीलमणि सदृश केशों को रत्नपिटारी में रखकर बड़े वैभव के साथ क्षीरसागर में विसर्जित करते हैं। इस प्रकार से अतुल महिमायुक्त निष्क्रमण कल्याणक महोत्सव मनाकर सुरेन्द्रगण अपने-अपने स्थान पर चले जाते है।

प्रभु ने दीक्षा लेते ही तेले का (तीन उपवास का) नियम कर लिया। भगवान की दीक्षा के समय की विशुद्धि का माहात्म्य कौन कह सकता है? जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञान के धारी प्रभु को दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त में मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है। इस लघुवय में श्रीपार्श्वनाथ ने कामदेव की सेना को जीतकर निष्काम पद प्राप्त किया है। ऐसे बालयती के पदकमल में मेरा अनंतशः नमस्कार होवे।

प्रभु को प्रथम आहार देने का सौभाग्य गुल्मखेटपुर के महाराज ब्रह्मदत्त को मिला था।

यद्यपि नाथ संपूर्ण प्राणियों के रक्षक थे तो भी मोह शत्रु को निर्मूल विध्वंस करने के लिए कटिबद्ध थे।

एक समय प्रभु योग में तन्मय हुए अपनी शुद्धात्मा के परमानन्द अमृत रस का अनुभव ले रहे थे। आकाश मार्ग से गमन करते हुए शंबर नामक ज्योतिषी देव का विमान वहीं पर रुक गया। यह नियम है कि महापुरुषों के ऊपर से किसी भी देव या विद्याधर का विमान उल्लंघन कर नहीं जा सकता। उसी समय अवधिज्ञान के बल से उस देव ने पूर्व भव के वैर का स्मरण किया और अत्यन्त कुपित होकर प्रभु के ऊपर घोर उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया। प्रलय काल के उत्पाद के समान भयंकर आँधी चलने लगी, पत्थरों की वर्षा होने लगी और मूसलाधार पानी बरसने लगा। उस समय जल और थल एक होकर सब महासागर सा दीखने लगा। विक्रिया बल से यह पापी कमठचर किलकिल शब्द करता हुआ महाबेताल का रूप लेकर अग्नि उगलने लगा। अधिक क्या कहना, उसने अनेक दुर्भेष धारण कर प्रभु के ऊपर भयंकर उपसर्ग किया किन्तु महामना प्रभु सुमेरु के समान अचल थे, परम सहिष्णु थे। जब प्रभु कई भवों तक इस पापी के उपसर्ग को सहन कर ही रहे थे तो पुनः अब तो वे साक्षात् तीर्थंकर थे, क्षमा की मूर्ति थे और कर्मशत्रु के विजेता महाशूरवीर थे।

इस उपसर्ग के प्रसंग में सहसा धरणेन्द्र देव का आसन कंपायमान

हो उठा। उसने अवधिज्ञान के बल से प्रभु के उपसर्ग को जाना और उनके द्वारा अपने प्रति किये गये उपकार का चिंतन करता हुआ तत्क्षण ही अपनी भार्या पद्मावती देवी के साथ वहाँ आ गया। देव-दंपत्ति ने प्रभु की प्रदक्षिणा दी और बार-बार नमस्कार किया। प्रभु के मस्तक पर फण का छत्र तान दिया। धरणेन्द्र युगल को देखते ही वह देव पापी कमठचर भाग खड़ा हुआ।

प्रभु सातिशय अप्रमत्त अवस्था रूप निर्विकल्प ध्यान में स्थिर हो गये और इस सप्तम गुणस्थान से ऊपर चढ़कर क्षपक श्रेणी में आरोहण करते हुए दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का निर्मूल नाश करके बारहवें गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का विनाश कर दिया तथा आत्मा के अनन्तगुणपुंज के साथ-साथ केवलज्ञानरूप परम ज्योति को प्राप्त कर लिया। तत्क्षण ही प्रभु पृथ्वी से ऊपर पाँच हजार धनुष प्रमाण (20000 हाथ प्रमाण) आकाश में पहुँच गये। इन्द्रों के आसन कंपित होते ही सौधर्म इन्द्र आदि सभी देव आ गये।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने अभूतपूर्व समवसरण रचना कर दी। प्रभु का उपसर्ग दूर हो गया और उस पवित्र स्थान में अहि—सर्प के रूप को धारण कर धरणेन्द्र ने प्रभु के ऊपर छत्र धारण किया था इसलिए उस स्थान का 'अहिच्छत्र' यह सार्थक नाम विश्व में प्रख्यात हो गया है। चैत्र कृष्ण चतुर्थी[1] के दिन इन्द्रों ने आकर प्रभु का केवलज्ञान महोत्सव मनाया था।

भगवान के समवसरण में प्रथम गणधर स्वयंभू स्वामी थे तथा अन्य और भी नव गणधर थे। कुल मिलाकर सोलह हजार मुनिराज, सुलोचना आदि को लेकर छत्तीस हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ और असंख्यात देव-देवियाँ तथा संख्यात तिर्यंच थे। ये सब भव्य जीव बारह सभाओं में बैठकर उपदेश सुनते थे।

शंबर नाम का वह ज्योतिषी देव भी काललब्धि पाकर शांत हो गया और उसने प्रभु को बार-बार नमस्कार कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया। यह देख उस वन में रहने वाले सात सौ तपस्वियों ने भी मिथ्यादर्शन छोड़कर संयम धारण कर लिया, सभी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो गये और बड़े आदर के साथ प्रदक्षिणा देकर भगवान के चरणों में नमस्कार करने लगे। आचार्य कहते हैं—"अहो! पापी कमठ के जीव का कहाँ तो निष्कारण वैर और कहाँ ऐसी शांति? सच कहा है कि महापुरुषों के साथ मित्रता तो दूर रही, शत्रुता भी वृद्धि का कारण होती है।"

---

1. उत्तरपुराण में चतुर्दशी है।

"सख्यमास्तां विरोधश्च वृद्धये हि महात्मभिः।"[1]

बारह सभाओं के मध्य धर्मोपदेश करते हुए प्रभु ने पाँच माह कम सत्तर वर्ष तक विहार किया। अंत में जब प्रभु की आयु एक माह की शेष रह गयी तब वे विहार बंद कर सम्मेदाचल के शिखर पर छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये। श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल के समय प्रभु ने शेष अघातिया कर्मों को भी निर्मूल करके, यमराज के मान का मर्दन कर निर्वाण पद प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्रों ने आकर प्रभु के निर्वाण कल्याणक महोत्सव की पूजा करके सातिशय पुण्य संचित करते हुए अपने जीवन को सफल बनाया।

श्री गुणभद्र आचार्य कहते हैं–

आदि मध्यांतगंभीराः सन्तोऽभोनिधिसन्निभाः।
उदाहरणमेतेषां पार्श्वो गण्यः क्षमावताम् ।।170।।

जो समुद्र के समान आदि, मध्य और अन्त में गंभीर रहते हैं, ऐसे सज्जनों का यदि कोई उदाहरण हो सकता है तो क्षमावानों में गिनती करने योग्य भगवान पार्श्वनाथ हो सकते हैं।

तीर्थेशाः सदृशो गुणैरनणुभिः सर्वेऽपि धैर्यादिभिः।
सन्त्यप्येवमधीश विश्वविदितास्ते ते गुणाः प्रीणनाः।।
तत्सर्वं कमठात्तथाहि महतां शत्रोः कृतापक्रियात्।
ख्यातिर्या महती न जातुचिदसौ मित्रात्कृतोपक्रियात्।।

"हे स्वामिन् । धैर्य आदि बड़े-बड़े गुणों से यद्यपि सभी तीर्थंकर समान हैं तथापि सबको संतुष्ट करने वाले आपके जो गुण संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, वे सब एक कमठ के कारण ही प्रसिद्ध हुए हैं। सो ठीक ही है, क्योंकि अपकार करने वाले शत्रु से जो महापुरुषों की ख्याति होती है वह उपकार करने वाले मित्र से कभी नहीं होती।"

श्री पार्श्वनाथ और कमठ के पूर्वभव का एक सिंहावलोकन–

पार्श्वनाथ का जीव पहले मरुभूति[1] हुआ, हाथी हुआ[2], फिर सहस्रार स्वर्ग में देव[3] हुआ, वहाँ से आकर विद्याधर हुआ[4], फिर अच्युत स्वर्ग में देव[5] हुआ, वहाँ से आकर वज्रनाभि चक्रवर्ती[6], फिर मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र[7] हुआ, वहाँ से आकर आनंद नाम का राजा[8] हुआ, फिर आनत स्वर्ग में इन्द्र[9] हुआ तदनंतर भगवान पार्श्वनाथ[10] तीर्थंकर होकर भव्य जीवों के लिए परम आश्रय स्वरूप हुआ है।

1. उत्तरपुराण पर्व 73।

कमठ का जीव पहले मरुभूति का कमठ[1] नाम का बड़ा भाई था, फिर कुक्कुट सर्प[2] हुआ, फिर पाँचवें नरक[3] गया, फिर अजगर हुआ[4], फिर नरक गया[5], फिर भील हुआ[6], पुनः नरक गया[7], पुनः सिंह हुआ[8], पुनः नरक गया[9] और फिर महीपाल राजा[10] होकर शंबर देव[11] हुआ है।

कमठ ने मरुभूति की भार्या के साथ व्यभिचार किया जिससे राजा अरविन्द ने कुपित हो उसे दंडित करके राज्य से बाहर निकाल दिया किंतु मरुभूति उस समय भी उस भाई पर क्रुद्ध न होते हुए उसे वापस लाने हेतु खोजते हुए वहाँ पहुँचता है कि जहाँ वह कमठ तापसी वेष में हाथ में पत्थर की विशालकाय शिला लेकर तप कर रहे है। मरुभूति का मन सरल था, भाई का प्रेम उमड़ रहा था किन्तु कमठ ने उसे ही अपना शत्रु समझ लिया और अत्यंत क्रोधावेश में अंधा होकर उसी के ऊपर अपने हाथ की शिला पटक दी।

फलस्वरूप वहीं से उसके संस्कार मरुभूति के प्रति क्रोध से बदला लेने के हो गये थे जो कि दश भव तक चलते रहे हैं। यह इकतरफा बैर का उदाहरण आप को इसी कमठ में मिलेगा, अन्यत्र नहीं। इतनी महान् क्षमा तथा सहिष्णुता का उदाहरण आपको भगवान पार्श्वनाथ के दशभव के जीवन में ही मिलेगा। इसलिए यदि आपके मन में किसी अपकारी के प्रति कलुषता बैठी हुई है तो आप बार-बार पार्श्वनाथ का चरित्र पढ़िए, सुनिए और मनन कीजिए। आप में क्षमा गुण का विकास होगा, जिसका फल कालांतर में बहुत ही मीठा मिलेगा और यदि आप उस कषाय कण को भीतर में लिए ही रहेंगे तो कमठ के समान आपकी हानि की संभावना हो सकती है अतः कषाय के एक कण को-अग्नि से भी अधिक भयंकर समझकर, उससे बचने की कोशिश करनी चाहिए और पार्श्वनाथ के श्रीचरणों में अनन्त-अनन्त नमस्कार करते हुए अपने मनुष्य जीवन को सफल करना चाहिए।

हमें कमठ जैसे क्रोध के संस्कार नहीं चाहिए किन्तु पार्श्वनाथ जैसे क्षमा के, सहिष्णुता के संस्कार चाहिए।

तीर्थंकर जन्मभूमियों के विकास की आवश्यकता

वर्तमानकालीन 24 तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ जैन संस्कृति की धरोहर हैं एवं धर्म की उद्गमस्थली हैं। उनका विकास व जीर्णोद्धार करना संस्कृति एवं इतिहास का संरक्षण है।

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का समस्त दिगम्बर जैन समाज को आह्वान है कि आप सभी लोग मिलकर 24 तीर्थंकरों के महान सर्वोदयी आदर्श एवं उनकी जन्मभूमियों के सुसज्जित स्वरूप को विश्व के समक्ष लावें ताकि ''भगवान महावीर जैनधर्म के संस्थापक या प्रवर्तक हैं'' इस गलत प्रचार का निरसन होकर जैनधर्म की प्राचीनता विश्व के समक्ष प्रस्तुत हो सके।

वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थंकरों की 16 जन्मभूमियों के नाम इस प्रकार हैं–

1. **अयोध्या (फैजाबाद-उ.प्र.)** – 5 तीर्थंकर–
   श्री ऋषभदेव भगवान,
   श्री अजितनाथ भगवान,
   श्री अभिनंदननाथ भगवान,
   श्री सुमतिनाथ भगवान,
   श्री अनंतनाथ भगवान
2. **श्रावस्ती (बहराइच-उ.प्र.)** – श्री संभवनाथ भगवान
3. **कौशाम्बी (उ.प्र.)** – श्री पद्मप्रभु भगवान
4. **वाराणसी (उ.प्र.)** – श्री सुपार्श्वनाथ भगवान,
   श्री पार्श्वनाथ भगवान
5. **चन्द्रपुरी (वाराणसी)** – श्री चन्द्रप्रभु भगवान

6. **काकन्दी (उ.प्र.)** – श्री पुष्पदंतनाथ भगवान
7. **भद्रिकापुरी** – श्री शीतलनाथ भगवान
8. **सिंहपुरी (वाराणसी)** – श्री श्रेयांसनाथ भगवान
9. **चम्पापुरी (भागलपुर-बिहार)** – श्री वासुपूज्यनाथ भगवान
10. **कम्पिलपुरी (फर्रूक्खाबाद-उ.प्र.)**– श्री विमलनाथ भगवान
11. **रत्नपुरी (फैजाबाद-उ.प्र.)** – श्री धर्मनाथ भगवान
12. **हस्तिनापुर (मेरठ-उ.प्र.)** – 3 तीर्थंकर–
    श्री शांतिनाथ भगवान,
    श्री कुन्थुनाथ भगवान,
    श्री अरनाथ भगवान
13. **मिथिलापुरी** – श्री मल्लिनाथ भगवान,
    श्री नमिनाथ भगवान
14. **राजगृही (नालंदा-बिहार)** – श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान
15. **शौरीपुर (बटेश्वर-उ.प्र.)** – श्री नेमिनाथ भगवान
16. **कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार)** – श्री महावीर भगवान

तीर्थंकर जन्मभूमि वंदना

(मंगलचतुर्विंशतिका)

(अनुष्टुप् छंद)

अयोध्या मंगलं कुर्या-दनन्ततीर्थकर्तृणाम्।
शाश्वती जन्मभूमिर्या, प्रसिद्धा साधुभिर्नुता।।1।।

ऋषभोऽजिततीर्थेशोऽप्यभिनंदनतीर्थकृत्।
श्रीमान् सुमतिनाथश्चा - नन्तनाथजिनेश्वरः।।2।।

पंचतीर्थकृतां गर्भ - जन्मकल्याणकादिषु।
इन्द्रादिभिः सदा वंद्या वंद्यते वंदयिष्यते।।3।।

संप्रति कालदोषेण शेषास्तीर्थंकराः पृथक्।
संजातास्ता अपिजन्म-भूमयो मंगलं भुवि।।4।।

श्रावस्ती मंगलं कुर्यात्, संभवनाथजन्मभूः।
तनुतान्मे मनःशुद्धिं, भव्यानां भवहारिणी।।5।।

कौशाम्बी मंगलं कुर्यात्, पद्मप्रभस्य जन्मभूः।
जिनसूर्यो मनोऽब्जं मे, प्रफुल्लीकुरुतादपि।।6।।

वाराणसी जगन्मान्या, मंगलं तनुतान्मम।
जन्मभूमिः सुरैः पूज्या, सुपार्श्वपार्श्वनाथयोः।।7।।

चन्द्रपुरी सुरैर्मान्या, मंगलं कुरुतात्सदा।
चन्द्रप्रभजिनेंद्रस्य, जन्मभूर्जन्मपावनी।।8।।

काकंदी मंगलं कुर्यात्, पुष्पदन्तस्य जन्मभूः।
आनंदं तनुताद् भूमौ, सर्वमंगलकारिणी।।9।।

मंगलं कुरुताान्नित्यं, जन्मभूर्भद्रकावती।
शीतलस्य जिनेंद्रस्य, मनो मे शीतलं क्रियात्।।10।।

सिंहपुरी जगन्मान्या, मंगलं कुरुतान्मम।
श्रीश्रेयांसजिनेंद्रस्य, जन्मभूमिः शिवंकरा।।11।।

चंपापुरी जगद्वंद्या, मंगलं तनुताद् ध्रुवं।
वासुपूज्यजिनेंद्रस्य, जन्मभूमिर्नुतामरैः।।12।।

सा कंपिलापुरी नित्यं, मंगलं कुरुतान्मम।
मच्चित्तं विमलीकुर्यात्, विमलेश्वरजन्मभूः।।13।।

रत्नपुरी यतीन्द्राणां, मंगलं कुरुताच्च नः।
सद्धर्मवृद्धये भूयाद्, धर्मनाथस्य जन्मभूः।।14।।

हस्तिनागपुरी नित्यं, मंगलं तनुतान्मम।
शांतिकुंथ्वरतीर्थेशां, जन्मभूमिर्जगन्नुता।।15।।

या मिथिलापुरी शश्वत्, मंगलं कुरुतान्मम।
जन्मभूमिः प्रसिद्धाभूत्, मल्लिनाथनमीशयो।।16।।

मंगलं संततं कुर्यात्, राजगृही सुजन्मभूः।
मुनिसुव्रतनाथस्य, दद्यान्मे सुव्रतं त्वसौ।।17।।

शौरीपुर्यर्द्धचक्र्याद्यै, मान्या मे मंगलं क्रियात्।
इन्द्रादिभिः सदा वंद्या, नेमिनाथस्य जन्मभूः।।18।।

या कुण्डलपुरी पूज्या, मंगलं कुरुताद् भुवि।
जन्मभूमिः प्रसिद्धास्ति, महावीरस्य संप्रति।।19।।

राजधानीह सिद्धार्थ-भूपतेः साधुभिर्नुता।
नंद्यावर्तं च प्रासादं, रत्नवृष्ट्या सुमंगलम्।।20।।

चतुर्विंशतितीर्थेशां, षोडश जन्मभूमयः।
वंद्यास्ता मंगलं कुर्युः, घ्नन्तु जन्मपरम्परां।।21।।

दीक्षाज्ञानस्थलं पूज्यं, प्रयागश्चाहिच्छत्रकं।
संततं मंगलं कुर्यात्, पूर्णज्ञानर्द्धये भवेत् ।।22।।

कैलाशचंपापावोर्ज-यन्तसम्मेदशृंगिषु।
निर्वाणभूमयो यास्ताः, कुर्वन्तु मम मंगलम्।।23।।

पंचकल्याणकैः पूज्या, भूमिसरोवराद्रयः।
तास्तान् ज्ञानमती याचे, दद्युः सिद्धिं च मे ध्रुवम्।।24।।

तीर्थंकर जन्मभूमि तीर्थ वंदना

रचयित्री—आर्यिका चन्दनामती

शेर छन्द—

जय जय जिनेन्द्र जन्मभूमियाँ प्रधान हैं।
जय जय जिनेन्द्र धर्म की महिमा महान है।।
जय जय सुरेन्द्रवंद्य ये धरा पवित्र हैं।
जय जय नरेन्द्र वंद्य ये तीरथ प्रसिद्ध हैं।।1।।

मिश्री से जैसे अन्न में मिठास आती है।
वैसे ही पवित्रात्मा तीरथ बनाती हैं।।
हो गर्भ जन्म दीक्षा व ज्ञान जहाँ पर।
वे तीर्थ कहे जाते हैं आज धरा पर।।2।।

जिनवर जनम से पहले वहाँ इन्द्र आते हैं।
नगरी को सुसज्जित कर उत्सव मनाते हैं।।
सुंदर महल सजाया जाता है वहाँ पर।
जिनवर के पिता-माता रहते हैं वहाँ पर।।3।।

पहली जनमभूमि है नगरि तीर्थ अयोध्या।
शाश्वत जनमभूमी प्रभू की कीर्ति अयोध्या।।
इस युग में किन्तु पाँच जिनेश्वर वहाँ जन्मे।
वृषभाजित अभीनंदन सुमति अनंत वे।।4।।

श्रावस्ती ने संभव जिनेन्द्र को जनम दिया।
कौशाम्बी में श्रीपद्मप्रभू ने जनम लिया।।
वाराणसी सुपार्श्व पार्श्व से पवित्र है।
श्रीचन्द्रपुरी चन्द्रप्रभू से प्रसिद्ध है।।5।।

काकन्दी को सौभाग्य मिला पुष्पदंत का।
है भद्रपुरी जन्मस्थल शीतल जिनेन्द्र का।।

श्रेयाँसनाथ से पवित्र सारनाथ है।
जिनशास्त्रों में जो सिंहपुरी से विख्यात है।।6।।

श्रीवासुपूज्य जन्मभूमि चम्पापुरी है।
कम्पिल जी विमलनाथ जिनकी जन्मस्थली है।।
तीरथ रतनपुरी है धर्मनाथ की भूमी।
रौनाही से प्रसिद्ध है वह आज भी भूमी।।7।।

श्रीशांति कुंथु अरहनाथ हस्तिनापुर में।
जन्मे जिनेन्द्र तीनों त्रयलोक भी हरषे।।
मिथिलापुरी में मल्लि व नमिनाथ जी जन्मे।
तीर्थेश मुनिसुव्रत जी राजगृही में।।8।।

है जन्मभूमि शौरीपुर नेमिनाथ की।
महावीर से कुण्डलपुरी नगरी सनाथ थी।।
चौबीस जिनवरों की जन्मभूमि को नमूँ।
कर बार-बार वंदना सार्थक जनम करूँ।।9।।

श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा मिली।
कई जन्मभूमियों में नई ज्योति तब जली।।
उन प्रेरणा से जन्मभूमि वन्दना रची।
प्रभु जन्मभूमि तीर्थों की भक्ति मन बसी।।10।।

प्रभु बार-बार मैं जगत में जन्म ना धरूँ।
इक बार जन्मधार बस जीवन सफल करूँ।।
इस भाव से ही जन्मभूमि वन्दना करूँ।
निज भाव तीर्थ प्राप्ति की अभ्यर्थना करूँ।।11।।

यह भक्तिसुमन थाल है गुणमाल का प्रभु जी।
अर्पण करूँ है भावना यात्रा करूँ सभी।।
बस ''चन्दनामती'' की इक आश है यही।
संयम की ही परिपूर्णता जीवन की हो निधी।।12।।

भगवान महावीर जन्मभूमि-कुण्डलपुर (नालंदा) का नवीन स्वरूप

-ब्र. कु. स्वाति जैन (संघस्थ)

प्राचीन काल से ही कुण्डलपुर (नालंदा) सम्पूर्ण भारतवर्ष की दिगम्बर जैन समाज द्वारा भगवान महावीर की जन्मभूमि के रूप में पूजा जाता रहा है। प्रतिवर्ष हजारों श्रद्धालु सम्मेदशिखर, राजगृही, पावापुरी इत्यादि तीर्थों के दर्शन की श्रृंखला में कुण्डलपुर पहुँचते रहें हैं, परन्तु एक छोटा सा जैन मंदिर श्रद्धालुओं को ज्यादा देर तक यहाँ रोक पाने में समर्थ नहीं हो पाता था।यात्रीगण आते, भगवान महावीर के समक्ष चावल के पुंज चढ़ाते और उसी ताँगे से वापस लौट जाते। कितने ही वर्षों तक यह क्रम चलता रहा पर जब सन् 2001 में 'भगवान महावीर 2600वें जन्मकल्याणक महोत्सव वर्ष' का अवसर आया, तब सौभाग्य से पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी ने गंभीरतापूर्वक भगवान की जन्मभूमि को विकसित करने का संकल्प संजोया, देशभर की दिगम्बर जैन समाज को जागृत करके भगवान महावीर की जन्मभूमि को नया स्वरूप देने के लिए पूज्य माताजी कटिबद्ध हो गईं।

फलस्वरूप 20 फरवरी 2002 को पूज्य माताजी ने अपने संघ सहित राजधानी दिल्ली के इण्डिया गेट से कुण्डलपुर के लिए मंगल विहार प्रारंभ किया, मार्ग में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली-प्रयाग में चातुर्मास (वर्ष 2002) के पश्चात् संघ 29 दिसम्बर 2002 को कुण्डलपुर (नालंदा) पहुँचा। इस ऐतिहासिक घड़ी में सर्वप्रथम ही बनारस के श्रेष्ठी श्री ऋषभदास जैन (अध्यक्ष-जैन समाज, बनारस) के सुपुत्र श्री दीपक जैन एवं पुत्रवधू श्रीमती सुभाषिनी जैनने पूज्य माताजी के निर्देशन एवं ससंघ सानिध्य में प्राचीन मंदिर के समक्ष क्रय की गई भूमि पर मुख्य भगवान महावीर मंदिर का शिलान्यास सम्पन्न किया। प्राचीन भूमि के नवीन स्वरूपोदय की यहाँ ही नींव पड़ गई। तीक्ष्ण शीत के मध्य निर्माणकार्य प्रारंभ हुआ और शीघ्र ही पूर्व घोषित पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं महाकुंभमस्तकाभिषेक का समय आ पहुँचा– 7 से 12 फरवरी 2003 तक। जमीन से लगभग 25 फुट की ऊँचाई पर भगवान महावीर की अवगाहना प्रमाण श्वेत खड्गासन प्रतिमा स्थापित की गई। साथ ही भगवान ऋषभदेव मंदिर निर्माण हेतु भगवान ऋषभदेव की 14 फुट उत्तुंग विशालकाय पद्मासन प्रतिमा भी ऊँचा प्लेटफार्म बनाकर स्थापित कर दी गई थीं। भगवान महावीर की प्रतिमा विराजमान करने का सौभाग्य प्राप्त किया-श्री महावीर प्रसाद जैन-

संघपति (दिल्ली) ने एवं भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान करने का पुण्य लिया-श्री ऋषभदास दीपक कुमार जैन (वाराणसी) ने। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने थे-श्रीमती कुसुमलता जैन एवं श्रीमहावीर प्रसाद जैन, संघपति (दिल्ली)।सौधर्म इन्द्र-इन्द्राणी बनें-श्री दीपक जैन एवं श्रीमती सुभाषिनी जैन (वाराणसी) एवं धनकुबेर बनने का सौभाग्य प्राप्त किया-श्री कमल कुमार जैन (आरा) ने। भव्यतापूर्वक विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इस प्रतिष्ठा महोत्सव में त्रिकाल चौबीसी की 72 तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भी सम्पन्न की गई।

पुनः निर्माणकार्य द्रुतगति से प्रारंभ हुआ और देखते ही देखते कुछ ही माह में भगवान महावीर मंदिर, भगवान ऋषभदेव मंदिर एवं नवग्रहशांति जिनमंदिर बनकर तैयार हो गये। 23 फरवरी 2004 को इन तीन मंदिरों पर कलशारोहण सम्पन्न हुआ। भगवान महावीर मंदिर एवं भगवान ऋषभदेव मंदिर पर कलशारोहण करने का सौभाग्य प्राप्त किया-सेठ श्री ऋषभदास जी एवं उनके सुपुत्र श्री दीपक जैन-बनारस एवं परिवार ने। भारतवर्ष में प्रथम बार निर्मित नवग्रहशांति जिनमंदिर में 9 कमलों पर 9 तीर्थंकर भगवन्तों की प्रतिमाएं विराजमान करने एवं इस मंदिर पर कलशारोहण करने का सौभाग्य प्राप्त किया-श्री ज्ञानचंद जैन एवं श्रीमती शशि जैन-आरा ने। ज्ञातव्य है कि जैन आगम के अनुसार मंगल, शनि, राहु इत्यादि 9 ग्रहों की शांति करने हेतु 9 तीर्थंकर भगवन्तों की पूजा करने का विधान है।

इसी प्रकार नवनिर्मित 3 मंजिले त्रिकाल चौबीसी मंदिर में 2 जुलाई 2004 को तीनों मंजिलों पर अलग-अलग भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्यत्काल के 24-24 तीर्थंकरों की प्रतिष्ठित प्रतिमाएं विराजमान की गईं हैं।**''नंद्यावर्त महल''** के नाम से प्रसिद्ध इस तीर्थ का दर्शनीय स्थल है-भगवान महावीर का जन्म महल ''नंद्यावर्त'', जिसका निर्माणकार्य भी शीघ्रता से सम्पन्न किया जा रहा है। 28 जून से 2 जुलाई 2004 तक सम्पन्न हुई लघु पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में नंद्यावर्त महल के शांतिनाथ जिनालय प्रतिमा प्रतिष्ठित की गईं। जिसमें सौधर्म इन्द्र-इन्द्राणी बने - श्री कमल कुमार जैन एवं श्रीमती अनुपमा जैन (आरा) एवं इनके सुपुत्र चि. अमन जैन को धनकुबेर बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस प्रकार अल्प समय में ही पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी की मंगल प्रेरणा एवं सानिध्य में भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर का जो नवीन स्वरूप 'नंद्यावर्त महल' तीर्थ के रूप में साकार हुआ है, वह सदैव जन्मभूमि की कीर्ति को दिग्दिगंतव्यापी बनाता रहेगा।